हमारी सभ्यता और विज्ञान - कला

लेखक
हंसराज अग्रवाल एम. ए.
अध्यक्ष हिन्दी तथा संस्कृत विभाग
गवर्नमेंट कॉलिज, लायलपुर
तथा
मनोहरलाल गौड़
एम० ए, एम० ओ० एल०
आचार्य ऋषिकुल आश्रम, लायलपुर

प्रधान विक्रेता
भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

प्रकाशक
राजहंस प्रकाशन
दिल्ली ।

मूल्य ढाई रुपये

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस, दिल्ली।

भूमिका

हमारी सभ्यता की श्रेष्ठता और विज्ञान-कला के गौरव का कौन नहीं जानता ? संसार में सबसे ऊंची चोटी वाला हमारा हिमालय और आकाश में अनादि काल से चमकने वाले सूर्य चांद और तारे हमारे प्राचीन वैभव और ऐश्वर्य के साक्षी हैं । ईसा से पूर्व जब पश्चिम अपनी अर्द्ध-नग्न बर्बर अवस्था को व्यतीत कर रहा था, हमारा भारत उन्नति के शिखर पर था । नाना देशों के विद्यार्थी दूर-दूर से आकर हमारे विश्वविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते थे और हमारी सभ्यता और विज्ञान-कला को सीखते थे । परन्तु समय पलटा, और हम चक्रवर्ती सम्राट् से पराधीन सेवक बन गए पाश्चात्य सभ्यता और विज्ञान-कला ने हमको चकाचौंध कर दिया और हम मुग्ध होकर उसी के गुण-गान करने लगे ।

जिस देश और जाति को अपनी सभ्यता और संस्कृति का न ज्ञान है, न गर्व; वह देश और वह जाति कभी भी समुन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती । इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम अपनी सभ्यता और विज्ञान-कला की उच्चता और महत्ता को भली प्रकार जानें । इस पुस्तक में 'हमारी सभ्यता और विज्ञान-कला' के उत्कर्ष का केवल दिग्दर्शन कराया गया है । यह विषय बड़ा विस्तृत और गम्भीर है, तो भी अधिक-से-अधिक सामग्री रोचक और सरल भाषा में संक्षेप से देने का भरसक प्रयत्न किया गया है । इतने थोड़े पृष्ठों में इससे अधिक सामग्री देना सम्भव भी नहीं था ।

आशा है कि इस पुस्तक को पढ़ जाने के बाद पाठक के हृदय में भारतीय सभ्यता और विज्ञान-कला के प्रति यथेष्ट श्रद्धा और अभिमान की उत्पत्ति हो सकेगी, बस यही इस पुस्तक के लिखने का एक मात्र उद्देश्य है ।

—: सूची :—

पहला भाग

हमारी सभ्यता का विदेशियों पर प्रभाव

प्राचीन युग

भारतवर्ष की सभ्यता संस्कृति एवं साहित्य का इतिहास अभी तक एक जटिल समस्या बना हुआ है। या यों कहना चाहिए कि बहुत से लोगों ने बना दिया है। यहां पर बहुत पहले से ही बाहर के देशों से समय-समय पर आक्रमण होते रहे हैं। उन आक्रमणों का बड़ा अनोखा फल रहा। कुछ लोग तो मार-धाड़ करते हुए यहां विजगीषु बनकर प्रविष्ट हुए। उन्होंने देश का बहुत सारा हिस्सा अपने अधिकार में भी कर लिया। उस पर थोड़े-थोड़े समय शासन भी किया। परन्तु इस देश के लोगों के रहन-सहन के ढंग एवं आध्यात्मिक विचारों ने उन पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे हिन्दू जाति में ही मिल गए, हमारे विचार उनके विचार हो गए और हमारे आदर्श उनके भी जावन के आदर्श बन गए। एक तरीके से कहा जा सकता है कि वे लोग अपनी तलवार ऊंची करके देश में आए और अपना मस्तक ही भारतीय सभ्यता के चरणों में झुका उसके भक्त बन गये। इनमें शक, हूण आदि का नाम लिया जा सकता है।

मध्य युग

इसके बाद कुछ ऐसे लोग आए कि जिन पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव तो पड़ा, पर वे इसमें मिल न सके। इसका कारण यह था कि

उनकी सभ्यता और धार्मिक विश्वास भी बड़े विस्तृत भू-भाग पर फैले हुए थे। इससे वे अपनी सभ्यता को ही बड़ा समझते रहे। साथ ही इन लोगों का उन देशों के साथ आना-जाना फिर भी बना ही रहा। जहां से वे आए थे, उनके आदि-देशों के धार्मिक महापुरुष यहां आते रहते थे। वे उनके हृदयों को बदलने नहीं देते थे, फिर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। रुपए में छः आने। इनमें मुसलमान भाई प्रधान हैं। अब तक के आने वाले लोगों में यह बात प्रायः सभी में रही कि वे भारतीय संस्कृति को ऊंचा मानते रहे। इसके चरणों में उनका सिर श्रद्धा से झुकता रहा। सम्राट् अकबर, दारा, जायसी[1] रहीम और रसखान आदि इस बात के प्रमाण हैं।

वर्तमान युग

इसके बाद यूरोप निवासी गोरी जाति के अंग्रेज आए। इनके आने पर हमारी सभ्यता की आलोचना विरोध रूप से शुरू हुई। इसकी चीर-फाड़ में इन लोगों ने ही सबसे पहले हाथ डाला। पहले-पहल तो इन्हें यही विश्वास हुआ कि भारतवर्ष एक असभ्य देश है। इसका न तो कोई इतिहास है, न उन्नत सभ्यता और न ही कोई बढ़ा-चढ़ा साहित्य! वेदों को गड़रियों के गीत समझा और स्मृतियों को संकुचित मस्तक के अनावश्यक बन्धन। पुराण उन्हें गप्प मालूम पड़ते थे। संस्कृत भाषा में विशेष श्रद्धा नहीं थी। पर धीरे-धीरे हालत बदल गई। यूरोप के लोगों नें अपनें धर्म का प्रचार करने के लिए मिशनरी भेजे। वे लोग भारतवर्ष के विभिन्न भागों में काम करने लगे। उन्हें अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भारतीय धर्म को छोटा बताना आवश्यक हुआ; तो वे लोग

---

[1] **जायसी, रहीम और रसखान हिन्दी के प्रसिद्ध मुसलमान कवि हैं। हिन्दी के मुसलमान कवियों की कुल संख्या ४०० से भी कहीं; बढ़-कर है।**

संस्कृत भाषा पढ़ने लगे; क्योंकि हमारे धार्मिक नियम तो संस्कृत भाषा में ही हैं। संस्कृत पढ़ते-पढ़ते उन लोगों को इसकी विशेषताओं, गुण, विस्तार और ऊंचेपन का ज्ञान हो गया, उन पर संस्कृत साहित्य का इतना अद्भुत प्रभाव पड़ा कि वे भारतवर्ष में ईसाइयत का प्रचार करना तो भूल गए; प्रत्युत अपने-अपने देशों में जाकर संस्कृत साहित्य के गुण गाने लगे। चौबे जी छब्बे बनने आए थे हो गए दुब्बे। यूरोप के बड़े-बड़े विद्वानों का इस ओर ध्यान खिंचा। वे भी फिर संस्कृत साहित्य को पढ़ने लगे। संस्कृत साहित्य और भारतीय सभ्यता मानो एक ही चीज हैं। संस्कृत साहित्य में भारतीय सभ्यता के वर्णन के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। संस्कृत साहित्य के आदि-ग्रन्थ वेदों को पढ़ने से यूरोप निवासी विद्वानों को यह विश्वास हो गया था कि ये संसार भर में सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। परिस्थिति अब इतनी बदल गई कि पहले तो इसी जाति के कुछ नौसिखियों ने वेदों को गड़रियों के गीत बताया था; अब उन्हीं के भाई इन्हें संसार के प्राचीनतम और सभ्य समाज के परिमार्जित ग्रंथ बताने लगे। जब वेद सबसे प्राचीन सिद्ध हो चुके और वह भी विदेशी विद्वानों द्वारा; तो यह अनायास ही सिद्ध हो गया कि वह सभ्यता, जो वेदों में वर्णन की गई है अर्थात् भारतीय सभ्यता, संसार में सबसे पुरानी है। इससे संसार में विचारों की बड़ी क्रान्ति फैली। यूरोप ही नहीं संसार के प्रायः सभी सभ्य महाद्वीपों के विद्वान् भारतीय साहित्य और सभ्यता के विश्लेषण में लग गये। कुछ विद्वानों ने इसे प्राचीन, तो कुछ ने अर्वाचीन सिद्ध किया। इस प्रश्न पर विद्वानों का बहुत दिनों तक संघर्ष-सा चलता रहा। अस्तु, बहुत से वाद-विवादों के बाद यह सब ओर से स्वीकार किया गया कि भारतीय सभ्यता और साहित्य बहुत पुराने हैं।

हमारी सभ्यता की जन्मभूमि

हमारा आदि-देश

इसके बाद एक नया प्रश्न पैदा हुआ। "क्या भारतीय सभ्यता की

जन्मभूमि भारतवर्ष है या कोई और देश ? " इस प्रश्न पर दूसरे प्रकार से विचार किया गया। भारतीय सभ्यता उन लोगों की है जो यहीं पर आदि-काल से रहते आए हैं या कोई और लोग इसे विदेशों से लाए। सरलता की दृष्टि से इसे यों कहा जा सकता है कि भारतीय लोग अपने समाज को "आर्य" (श्रेष्ठ) नाम से पुकारते थे तो वे आर्य लोग क्या बाहर से भारतवर्ष में आए या यहीं के आदिम निवासी थे। आर्य या आर्य-सभ्यता बात एक ही है। यहां पर यह बात ध्यान रखने की है कि इस प्रश्न के उठने से पहले बहुत-सी जातियां यहां पर आ चुकी थीं और वे कुछ तो भारत में मौजूद भी थीं। बल्कि अंगरेज भी उस समय नये-नये ही आए थे। इन सब आगमनों के कारण यह भावना ऐतिहासिकों के हृदयों में घर कर गई कि आर्य लोग भारत में बाहर से ही आए थे। इस भावना को एक और भी बल मिला। यूरोप के विद्वान् भारतीय सभ्यता के पूर्ण परिचय से पहले अपनी सभ्यता को बड़ा समझते थे जैसा कि सभी लोग समझते हैं। उस सभ्यता का उद्गम-स्थान ही उनकी दृष्टि में उच्चतम देश था। यह कुछ मानने वाली भी बात थी; क्योंकि यूनान और मिश्र की सभ्यता की प्राचीनता एवं उच्चता जगत्-प्रसिद्ध थी। इसलिए; एशिया विशेषकर भारतवर्ष, के विद्वानों को भी यह सम्भव प्रतीत होने लगा कि आर्य लोग बाहर से आये होंगे और हमारी सभ्यता उन्हीं की लाई सम्पत्ति है। विदेशों की देन है भारत की उपज। यूरोप वालों को इसलिए विश्वास हो गया कि यूनान व मिश्र की सभ्यता यूरोप की सभ्यता की जननी थी। यूरोप अपने को सभ्यतम महाद्वीप समझता था और भारतवर्ष की उच्चता में उन्हें विश्वास नहीं था। दूसरे इस बात को भी मानने से इनकार नहीं किया जा सकता कि यूरोप के लोग हर बात में अपनी महत्ता स्थापित करने में प्रयत्न-शील रहते हैं; जातिगत ईर्ष्या उनमें पाई जाती है। उदारता के भावों का वहां नितान्त अभाव है। कुछ लोग तो इसका इतना तक भाव लगा लेते हैं कि यूरोप निवासियों के यह सिद्ध करने में कि—भारतीय सभ्यता

और आर्य बाहर से आए–एक राजनीतिक चाल है। पर यह विश्वसनीय बात नहीं मालूम पड़ती। हां इसके मनोवैज्ञानिक कारण मानने में किसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है? अस्तु—अब फिर भारतीय सभ्यता के विश्लेषण का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। जो भी साहित्य विद्वानों के पास उपलब्ध था उसका अध्ययन इसी दृष्टि से किया गया। जहां-जहां ऐसे प्रमाण मिले कि जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि आर्य लोग बाहर से आए थे–वे इकट्ठे किये गए। वास्तव में वे प्रमाण यह सिद्ध नहीं कर सकते थे कि हम लोग यहां बाहर से आए हैं। अब हम उन्हीं प्रमाणों पर विचार करने लगे हैं:—

भाषाओं की समता के आधार पर

आज से लगभग १५० वर्ष पहले की बात है। कलकत्ते में सर विलियम जान्स को संस्कृत पढ़ते-पढ़ते ध्यान आया कि संस्कृत भाषा कई बातों में ग्रीक, लेटिन, जर्मन और सैल्टिक भाषाओंसे मिलती-जुलती है। इस सूझ पर उन्होंने विचार किया और विद्वानों में उसे फैलाया। उन्होंने तो केवल चार भाषाओं की समता पर ही विचार किया था पर खोज करने से पता चला कि बीसों भाषाएं संस्कृत से मिलती हैं। भारत से पश्चिम की ओर पश्तो, बलूची, ईरानी (फारसी), ये तीनों भाषाएं जैक भाषा से निकली हैं और जैक भाषा संस्कृत से बिलकुल ही मिलती है। इसके आगे रूस और बलगारिया की "स्लाव" भाषाएं, आधुनिक यूनानी, और इटालियन, जर्मन, फ्रैंच, अंग्रेजी, डच, डैनिश, पुर्तगाली आदि भाषाएं भी संस्कृत से मिलती-जुलती सिद्ध हुईं। क्योंकि इन सभी भाषाओं की मातृ-भाषा ग्रीक या लैटिन है। ग्रीक तथा लैटिन का संस्कृत के साथ बहुत साम्य है। इसका भाव यह निकला कि प्राचीन भाषाओं में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन जैक भाषाएं तथा आधुनिक भाषाओं में इन्हीं चारों से निकली बंगला, गुजराती, हिन्दी, मराठी, पश्तो, ईरानी, रूसी, जर्मन, फ्रैंच, अंग्रेजी, इटालियन, स्पैनिश, पुर्तगाली, आदि–ये

सभी भाषाएं आपस में मिलती हैं। इस भाषा के मेल से तरह-तरह के फल निकाले गए। भारत के कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि संस्कृत भाषा इन सभी भाषाओं की जननी है। पर वास्तव में यह सिद्धांत प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया जा सकता। ग्रीक, लैटिन, जैक भाषाओं में ऐसे बहुत से चिन्ह हैं जिन्हें संस्कृत से पहले का ही कहा जा सकता है। इसलिए यही मत स्थिर किया गया कि संस्कृत भाषा ग्रीक, लैटिन, जैक भाषाओं की बड़ी बहन है, जननी नहीं। इन सबका जननी इनसे प्राचीन भाषा कोई अन्य होगी। इसलिए इन भाषाओं में आपस में साम्य है। इस समता का एक ही कारण समझ में आता था कि अति प्राचीन काल में कोई भाषा रही होगी जो अब तो कहीं नहीं बोली जाती पर उसी ने इन सब भाषाओं को जन्म दिया है। अब यदि उन समान शब्दों में से दो चार का उदाहरण यहां न दिया जावे तो बात अधूरी ही रह जावेगी, इसलिए उन शब्दों को लिखा जाता है जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में समान हैं:—

संस्कृत	ईरानी	अंगरेजी
पितर्	पिदर्	फादर
मातर्	मादर	मदर
भ्रातर्	बिरादर	ब्रदर
दुहितर्	दुख्तर	डाटर
भ्रू	अब्रू	ब्राऊ आदि

इस प्रकार आपस में मिलने वाले सैंकड़ों शब्दों की सूची तैयार की जा सकती है। आम तौर से निकट सम्बन्धी, संख्या, तथा आवश्यक वस्तुओं के वाचक शब्द इन सभी भाषाओं के एक-से हैं।

भिन्न-भिन्न मत

इस भाषा की एकता से लोगों ने यह अनुमान लगाया कि कोई ऐसा समय था जब कि इन भाषाओं के बोलने वालों के पूर्वज लोग एक स्थान

पर रहते थे। मैक्समूलर ने इसका बड़ा प्रचार किया। अब यह तय करना रह गया कि वह स्थान कौन-सा है। बहुतों की राय बनी कि यह स्थान मध्य एशिया था। कुछ लोगों ने पूर्वी रूस को निश्चित किया। तीसरे फिनलैंड के पक्ष में रहे। मध्य यूरोप में वर्तमान बोहेमिया की तरफ भी कुछ एक विद्वानों का ध्यान झुका। बाल गंगाधर तिलक की राय थी कि यह स्थान उत्तरी ध्रुव के पास था। पार्जीटर का इन सबसे विलक्षण विचार यह ा कि आर्य लोग हिमालय में स्थित इला नामक स्थान से यहां आकर भारत से पश्चिम की ओर गये।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है-इस विचार-धारा का कि आर्य-लोग बाहर से भारत में आये—एक पहली बद्ध धारणा का कारण है। इन लोगों ने सिकन्दर, हूण, शक, मुसलमान, अंगरेज आदि के आगमन देखे सुने थे। उनसे यह विश्वास हो गया कि यहां बाहर से आए लोग ही रहते हैं। सिकन्दर आदि के आने से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि हम लोग भी बाहर से आए हैं। नदी में डूबकर मरने वाले आदमी को यह निश्चय कर लेना कि संसार के सभी मनुष्य डूबकर मरते हैं—ठीक नहीं। देशों की परिस्थितियां बदलती रहती हैं।

यदि हम लोग बाहर से आते तो हमारे वेदों में उस आदि-देश का भी वर्णन मिलता। उसकी कोई याद ऋषियों को होती। वहां की जल-वायु की वे भिन्नता का अनुभव करते। हमारे वेदों में यहां की नदियां, यहीं के पहाड़, खेत, अन्न, पशु-पक्षी, आदि का वर्णन है। कृषि-प्रधान सभ्यता वेदों में पाई जाती है। जिस प्रकार के देवताओं, व यज्ञ का विधान, वेदों में है वह ज्यों-का-त्यों भारत में पाया जाता है, वेदों के बाद बना भारतीय साहित्य वेदों से ओत-प्रोत है—वेद सर्वमान्य हैं। आज भी हम लोगों के दैनिक आचार में वैदिक सभ्यता छिपी पड़ी है, कुछ शब्दों के मिलने-मात्र से यह सिद्ध कर लेना कि भारतीय बाहर से आये थे—उचित नहीं। सैकड़ों शब्द इङ्गलिश के जैसे टिकिट, स्टेशन, कार्ड, टेली-फोन, जज, ऑफिस-आदि हमारी रग-रग में प्रविष्ट हो चुके हैं। तो क्या

आने वाले विद्वानों को यह तय कर देना चाहिए कि भारतीय इङ्गलैण्ड से आये थे। वास्तव में वेदों में कौन-सी सभ्यता है इस बात का पता सबसे अच्छा उन ग्रन्थों से लग सकता है जो वेदों के थोड़े समय बाद लिखे गये हैं—जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ। उनमें जो है वह हमारी सभ्यता है। वह जहां मिले—वही हमारी सभ्यता का देश है। ब्राह्मणों में बताये गये याग और यज्ञ आज भी भारत के अग्निहोत्री करते हैं—फिर हमारी सभ्यता बाहर से कैसे आई ?

पर इस बात को सत्य माना जावे तो यूरोपीय देशों में पाये गए भारतीय शब्दों का क्या कारण होगा ? क्या भारतीय लोग बाहर गए ? भगवान् बुद्ध के बाद तो सैकड़ों भारतीय धर्म के प्रचार के लिए भी अन्य देशों में गए। शायद बौद्धों का इस प्रकार बाहर जाना भारतीयों की पूर्व प्रथा का ही अनुसरण हो। मनुजी का वह श्लोक कि आर्यावर्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मण से संसार के समस्त मनुष्य आ आकर सभ्यता सीखें, शायद प्राचीन अभ्यास ही की याद दिलाता हो ? धार्मिक दृष्टि ही नहीं व्यापारिक दृष्टि से भी भारतवासियों का बाहर जाना अधिक पाया जाता है। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर ऐसे सिक्के मिले हैं जो यूनान के हैं। पर वे हैं सिकन्दर के आक्रमण से कुछ समय पूर्व के ही। वैदिक साहित्य में ऐसी नावों के नाम आते हैं जिनमें हजार मनुष्य बैठकर जा सकते थे (सहस्रिय)। ऐसी नौकाओं का बनना इस बात पर प्रकाश डालता है कि वैदिक- काल के भारतीय बाहर व्यापार करने जाते होंगे। वेदों का पणि समूह, जिसका शब्दार्थ ही व्यापार करने वाला समुदाम है "वैश्यस्तु व्यवहर्ता विट् वार्तिकः पणिकी वकिक्' इसकी पुष्टि करता है इस जाति का लक्ष्य जिस किसी प्रकार से धन इकट्ठा करना था, इसलिए देव-पूजक भारतीयों की दृष्टि में यह गिरे हुए समझे जाते थे। उनके देव-पूजक भारतीयों के साथ लड़ाई-झगड़े भी होते रहते थे।

दूसरा नाम इसी प्रकार का दस्यु भी है। कुछ लोग इन्हें यहां के

आदिम निवासी मानते हैं। पर इस विषय में एक बात ध्यान देने की है कि ये लोग आर्यों से इतने मिलते-जुलते थे कि उन्हें भीड़ या लड़ाई आदि में पहचानना भी कठिन होता था। एक वेद-मन्त्र में लिखा है कि "लो यह मैं दास और आर्य को चुनता हुआ आ रहा हूं" दास दस्यु का ही पर्यायवाची है। ऋ० वे० १०।४९ में अपनी प्रशंसा करते हुए कहा है कि मैं वह हूं जिसने दस्यु को आर्य नाम नहीं दिया। यानी कुछ लोग इन्हें आर्य भी कहते थे और वे आर्यों से मिलते-जुलते थे। दास शब्द तो शूद्रों-के नाम के सामने अब भी लगाया जाता है। धर्म शास्त्रों में इसका नियम है। और शूद्र जाति का वेदों में भारतीय जाति का एक अंग माना है। एक ही पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है, वास्तव में भारतीय लोग यज्ञ, देवपूजा, आदि अधिक करते थे। वे आध्यात्मिक प्रकृति के थे और थे इतने कट्टर कि जो देवताओं को नहीं मानते थे, उन्हें अपने भाई होते हुए भी शत्रुवत् समझते थे। उनकी आपस में लड़ाई होती थी। यही देवासुर-संग्राम है। इसीलिए असुर शब्द का वेद में भी देवता अर्थ है। यानी पहले सब भारतीय असुर ही थे (असुर का शब्दार्थ बलवान् होता है) आर्य वे थे जो देवताओं की बलियां देते थे, उन्हें सोम पिलाते-थे। जो ऐसे नहीं थे वे बाद में असुर बन गए। दस्यु और दास शब्द का अर्थ दूसरों को क्षीण करने वाला है। अर्थात् पणि और दस्यु लोग रुपया पैसा कमाना अपना धर्म समझते थे। व्यापारादि के द्वारा आर्यों का धन चूसते थे। यूरोप में जो स्थान यहूदियों का है और भारतवर्ष में मारवाड़ी जैसे समझे जाते हैं, उसी प्रकार का स्थान दास या पणियों का आर्यों में था। धार्मिक विश्वासों में भेद आने से आपस में लड़ाई-झगड़े हुए, आर्यों को विजय मिली और दस्यु या पणि लोग बाहर भाग गये। पहले ये लोग भारत की सीमा पर कुछ दिन रहे। फिर आगे ईरान, ईराक की ओर बढ़ते चले गए। ईरान में उन्होंने अपना अड्डा जमाया और यूरोप में व्यापार करते-करते फैलते गये। ईरान से यरोप में आना-जाना आसान था। इधर ईरान में रहने वालों का सम्बन्ध भारतीयों से भी बना रहा।

इसीलिए ईरानियों की पर्सियन सभ्यता भारतीय सभ्यता से बिलकुल अभिन्न है। इनका जैन्द अवस्ता हमारे वेद का ही एक भाग समझना चाहिए। भारत से बाहर जाने वाले आर्यों का जो साहित्य, धार्मिक विचार व प्रथाएं थीं—वही उसमें हैं। हाँ, वह भेद तो है जो पणि, दस्यु आदि का यहां पर था। इसीलिए आर्यों के देवता जैन्द अस्वता में निन्द्य हैं। असलियत यह है कि ईरानी तथा भारतीय पहले यहीं थे। सब देवताओं को असुर कहते थे। यहाँ मतभेद होने से कुछ लोग वहां चले गये, कुछ यहीं पर रह गए। भिन्न विश्वास वाले भी रह गए थे, पर उन्होंने अपना विश्वास बदल डाला था। हमारा असुर-मेध ईरान में "अहूर मज्दा" हो गया, मित्र मिथ्र बन गया और सोम की पूजा होम के रूप में हुई। नासत्या नाहत्या बन गए, सप्ताह हफ्ताह बन गया और सिन्धु होगया हिन्दू। जो आज भ्रम के कारण कभी गुलाम का वाचक समझा जाता है और और कभी काफिर का। ईरान में बसने के बाद भारतीयों को सिन्धु पार वासी कहा होगा। सारांश यह हुआ कि भारत में पहले सभी आर्य परमात्मा को अग्नि, वरुण, यम, मित्र, आदि के नाम से पूजते थे। यह देवता प्रकृति की अग्नि, जल, सूर्य आदि वस्तुओं की ही अधिष्ठात्री परमात्मा की दैवी शक्तियां हैं। इसके कुछ दिन बाद इन्द्र-शक्ति की पूजा प्रारम्भ हुई। यह शक्ति बादल लाती है, उन्हें बरसाऊ बनाती है। उस शक्ति का संहार करती है जो वर्षा को रोके (वृत्र या अवग्रह)। चूंकि यह इन्द्र-शक्ति प्रत्यक्ष नहीं थी, बादल ही वर्षा के कारण समझे जाते थे। अतः कुछ लोगों का इस पर विश्वास नहीं जमा। वे 'अनिन्द्रा' बन गए। यह विश्वास-भेद बढ़ता गया। आपस में लड़ाई हुई। और घोर लड़ाई हुई। एक ही जननी के पुत्र लड़ पड़े। हारकर बहुत से ईरान आदि में जा बसे, बहुत सों ने यहीं रहकर अपने दूसरे भाइयों की हां-में-हां मिला दी। उधर ईरानवासी आर्यों को अपना आर्य बीजस्थान (एरियनबेइजो), याद आता रहा; वे समय-समय पर यहां आते-जाते रहे। जरथुस्त्र (ईरानियों का देवता) इस प्रकार विलाप भी करते हैं कि मैं किस देश को जाऊं।

कहां शरण लूं। कौन-सा देश मुझको और मेरे साथियों को शरण दे रहा है"। फिर ईरानवासियों को ईरान से भी बाहर जाना पड़ा, क्योंकि अग्रेमैन्यु (देवता) की कृपा से वहाँ जाड़ा बहुत बढ़ गया था।[१]

इसलिए कुछ ईरानी लोग पश्चिम दिशा में बढ़ते चले गए, वहां पर व्यापार आदि वे पहले भी करते थे। चूंकि ये लोग यूरोप के निवासियों की अपेक्षा अधिक सभ्य थे इसलिए इनका उन पर प्रभाव पड़ा। इनकी भाषा, विचार, पूजा-पद्धति वहां अपनाई गई। यही कारण है कि भारत तथा यूरोप के कुछ शब्द तथा रीति-रिवाज मिलते हैं। वास्तव में आर्य भारतीय ही हैं और नहीं; और हमारी सभ्यता का उद्भव तथा हमारा उद्भव यहीं पर हुआ है। बाहर कहीं नहीं। यह कलंक हम पर थोपा गया है कि हम बाहर से आए हैं इससे हमारी राष्ट्रीयता को ठेस पहुंचती है। इस कलंक को मिटाने के लिए बहुत से प्रयत्न हो रहे हैं; पर वे पर्याप्त नहीं हैं। अधिक होने चाहिएं।

---

[१] चूंकि ये लोग भारत जैसे गर्म देश से गये थे इसलिए जाड़ा इन्हें विपरीत प्रतीत होता है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार हमारे वेदों में ऋतु की विपरीतता नहीं मिलती यदि आर्य बाहर से आते तो अवश्य मिलती।

दूसरा भाग

भारतीय सभ्यता का बाहर प्रचार

भारतवर्ष की सभ्यता पर विदेशों का प्रभाव नहीं के बराबर है। इससे उल्टा इस देश का प्रभाव बाहर रहा है। इसका कारण यही है कि आरम्भ से ही हमारी सभ्यता औरों की अपेक्षा अधिक उन्नत रही है। हिंदुस्तान का जल और स्थल के रास्तों से विदेशों के साथ व्यापार पुराने समय में ही शुरू हो गया था। वेदों में सहस्रों आदमी ले जाने वाली नावों का वर्णन मिलता है। ईसा से नौ सौ वर्ष पूर्व ईराक, अरब, फिनिशिया, और मिश्र से बराबर व्यापार होता था। धीरे-धीरे यह व्यापार और भी बढ़ा। ऐसे बहुत से शब्द इन दूर देशों में मिलते हैं जो भारत के उन शब्दों के अपभ्रंश हैं जिनका यहां ई० ५०५ वीं सदी में व्यवहार होता था। पश्चिम में हिंदुस्तानी मल्लाह जर्मनी और इंग्लिस्तान के बीच उत्तर समुद्र तक पहुंचे। पहली ईस्वी सदी में अफ़्रीका के किनारे एक टापू में हिंदुओं ने अपना उपनिवेश बनाया था। पश्चिमी देशों में हिन्दुस्तान से मसाले, गन्धक, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दांत, कछुए की पीठ, मिट्टी के बर्तन, मोती, हीरा, जवाहर, चमड़ा, दवा आदि जाते थे। उन देशों से यहां कपड़ा, दवा, सोना, चांदी, तांबा, टीन, सीसा और शीशे के बर्तन आते थे। पहली ईसवी सदी के रोमन लेखक प्लिनी ने लिखा है कि इस व्यापार से भारत को बड़ा लाभ था और रोमन साम्राज्य की बहुत-सी सम्पत्ति हर साल भारत चली जाती थी। इस

समय के ग्रीक और रोमन लेखकों से साफ पता चलता है कि भारत के समुद्र-तट पर अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे। उनमें बहुत-से जहाज आते जाते थे। तामिल साहित्य से पता चलता है कि चोल प्रदेश में 'कावेरी-पटम्, तौंड़ी, और पुहार, समुद्री व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र थे।

दूसरी ओर पूरब के देशों से भी व्यापार होता था। बंगाल की खाड़ी के बन्दरगाहों से जहाज पूर्वीय द्वीप-समूह और चीन आया-जाया करते थे। पांचवीं सदी में चीनी यात्री फाहियान हिन्दुस्तानी जहाज में ही बैठकर चीन से आया था और फिर हिन्दुस्तानी जहाज से ही घर लौटा था। हाल में पूर्वी बोर्नियो में चार यूप-लेख मिले हैं, जिनमें ब्राह्मण प्रवासियों के यज्ञ और दान का उल्लेख है। इसी तरह जावा के बीच में पहाड़ों पर हिन्दू लेख मिले हैं।

व्यापार के कारण हिन्दुओं को उपनिवेश बनाने का भी प्रोत्साहन हुआ। उन्होंने अपने देश के बाहर बहुत-सी बस्तियां कायम कीं। ईसा के पूर्व तीसरी सदी के लगभग लंका के टापू में, बर्मा में और उसके भी पूर्व श्याम में हिंदुओं ने अपने उपनिवेश बसाए। पहली दूसरी ईसवी सदी के लगभग कम्बोडिया में, दक्षिण अनाम में, जिसका नाम चम्पा रखा गया, दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो के द्वीपों में और मलाया प्रायद्वीप में हिन्दू उपनिवेश बसाये गए।

इन सब देशों में हिंदुओं की सभ्यता फैल गई। संस्कृत साहित्य का प्रचार हुआ, हिंदू सिद्धांतों के अनुसार चित्रकारी, मूर्ति-निर्माण और भवन-निर्माण हुआ। हिन्दू धर्म के सिद्धांत वहां भी माने गए। कहीं-कहीं समाज का संगठन हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हुआ, कुछ सदियों के बाद हिंदुस्तान से सम्बन्ध कम हो जाने से, तथा हिंदू धर्म की कट्टरता से, तथा दूसरी जातियों और धर्मों के बढ़ जाने से हिन्दू प्रधानता मिट गई पर हिन्दू-सभ्यता के आश्चर्यकारी चिह्न अब तक मौजूद रहे। श्याम इत्यादि में राज्याभिषेक अब तक हिन्दू रस्मों के अनुसार होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के मन्त्र उच्चारण किए जाते हैं। ब्राह्मण अभिषेक करते हैं।

वैदिक रीतियों के अनुसार राजा आसपास के लोगों को सम्बोधन करता है। बाली द्वीप में महाभारत, शुक्रनीति, आदि अनेक संस्कृत ग्रंथ मिले हैं। जावा में अब तक ६००हिंदू इमारतों के अवशेष मौजूद हैं। यहां का बरबोहूर मन्दिर तो निर्माण-कला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से है। बरबोहूर का प्रधान मन्दिर संसार के सबसे सुन्दर भवनों में गिना जाता है। इसकी कुर्सी ४००फीट से ऊंची ज्यादा है। और इसमें सात ऊंचे-ऊंचे खन हैं। निर्माण की शैली सुन्दर है। चारों ओर पत्थर की बहुत-सी मूर्तियां नक्काश की हैं, जो यदि एक कतार में रखी जावें तो तीन मील तक फैल जावें। मूर्तियां इसा तरह की हैं जैसी यहांपर अजन्ता आदि स्थानों में हैं। मूर्तियों के द्वारा बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाएं बयान की गई हैं और इस खूबी से बयान की गईहैं कि सदा के लिए चित्त पर अंकित हो जाती हैं। सब जगह कारीगरी वही है जो अलोरा, नासिक अजन्ता इत्यादि में दिखाई देती है। कम्बोडिया में "अंगकोरबात" का मन्दिर हिन्दू-कला का एक दूसरा चमत्कार है।

यह लगभग एक मील लम्बा और लगभग एक मील चौड़ा है और क्षेत्रफल में भी एक वर्गमाल है। एक खण्ड के बाद दूसरा खण्ड है जो पहले खण्ड से कुछ ऊंचा है और इसी तरह खण्ड-पर-खण्ड चलते गये हैं। सीढ़ियों के बाद सीढ़ियां, स्तम्भ-समूह के बाद स्तम्भ-समूह लांघते हुए दर्शक चारों ओर शैला के चातुर्य की और मूर्ति-कला की निपुणता की प्रशंसा करता हुआ घंटों तक घूमा करता है। इन सब उपनिवेशों में बहुत-से नगरों तथा प्रान्तों के नाम भारतवर्ष से लिये गए थे। दूर देशों में चम्पा और कलिंग थे। द्वारावती और कम्बोन थे - अमरावती और अयोध्या थे। इन देशों के जंगलों में अब भी नई-नई हिन्दू इमारतें और मूर्तियां निकल रही हैं। इनकी सभ्यता पर अब भी हिन्दू-प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।
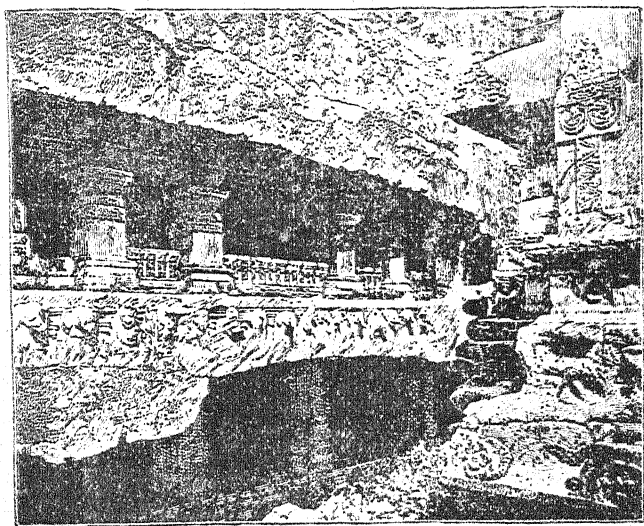
कैलाश मन्दिर, ऐल्लोरा।
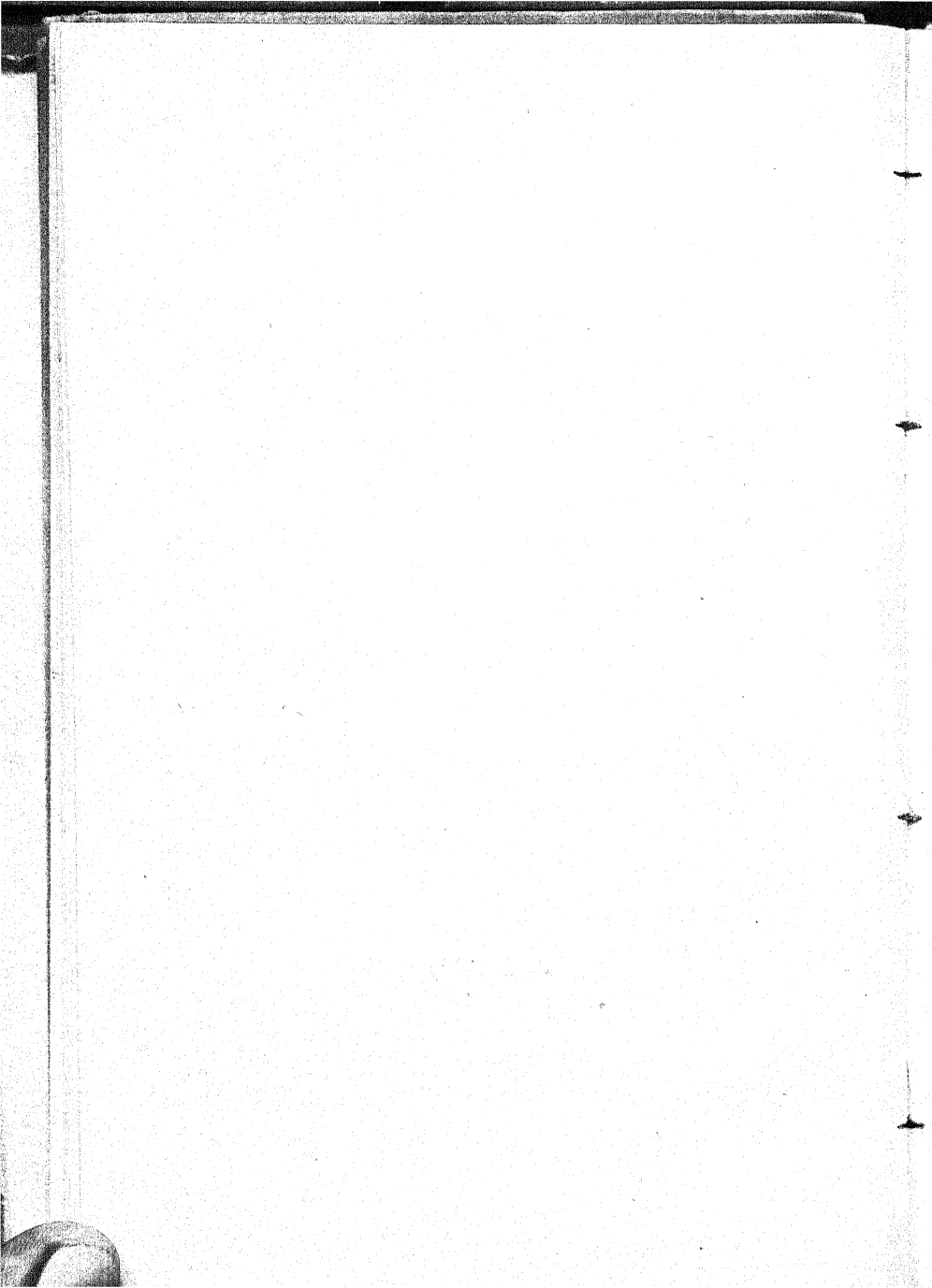
तीसरा भाग

भारतीय सभ्यता का परीक्षण

प्रकृति-विजय

भारतीय सभ्यता के स्वरूप को दिखानें से पहले हम यह आंवश्यक समझते हैं कि सभ्यता किसको कहते हैं—इसका साधारणतया निर्णय कर लें। वैसे तो यह प्रश्न इतना जटिल है कि कोई भी सिद्धान्त, जो इस पर स्थिर किया जावे; उसके पक्ष और विपक्ष दोनों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस तरह यह कठिन प्रश्न बन जाता है कि दो टूक उत्तर इसका बन सके कि सभ्यता किसे कहते हैं। फिर भी हम अधिकतर उन प्राणियों को भी देखते हैं जो सब विचारकों के लिए असभ्य हैं। और उन्हें भी देखते हैं जो सबकी दृष्टि में सभ्य समझे जाते हैं। इनके देखने से पता चलता कि असभ्य और सभ्य प्राणी में एक बड़ा भारी अन्तर होता है। असभ्य पर प्रकृति (Nature) की विजय रहती है और सभ्य इससे उलटा प्रकृति पर अपनी विजय स्थापित कर लेता है। उदाहरण के लिए पशु-पक्षी, वन-मानुष,-आदि सभी प्रकृति के अधीन होते हैं। वे जाड़ा पड़ने पर बेर की तरह कांपने लगते हैं और गर्मी पड़ने पर रीछ की भांति हांफना शुरू कर देते हैं। बरसात में वे भीग जाते हैं। नदियों में बाढ़ आजावे तो बह जाते हैं, आँधी आवे तो एक स्थान से दूसरे स्थान को भटक जाते हैं। इनसे बचने का उनके पास कोई उपाय

नहीं। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही प्रकृति पर विजय बढ़ती जाती है। जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक प्राणी नदी से सिर्फ इतना ही लाभ उठा सकता है कि प्यास लगने पर उसमें पानी पी ले और ज्ञान बढ़ने पर उससे नहरें निकालकर भूमि को उर्वर बना ले। नाव बनाना और चलाना सीख जावे तो व्यापार करे। बाद में नदी के किनारे पर पनचक्की भी लगा सकता है। नदी के किनारे अच्छे नगर बसा सकता है, इसे हम प्राणी की नदी पर विजय कहेंगे। इससे आगे यदि नदी में बाढ़ आजाती है और मनुष्य के बसाये गांव या खेतों को नुकसान होता है तो समझो अभी मनुष्य को नदी पर पूर्ण विजय नहीं हुई। यदि वही मानव अधिक ज्ञान प्राप्त करेगा तो नदी के किनारों को अभेद्य बना डालेगा या अपने तथा गांवों का रक्षा का कोई ऐसा उपाय ढूंढेगा कि वह नदी के प्रभाव से ऊपर हो। इस सबका सारांश यह हुआ कि मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता जावेगा त्यों-त्यों अपने ज्ञान के बल से प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जावेगा। इसलिए प्रकृति पर विजय सभ्यता की पहली कसौटी है।

तत्व-चिन्तन

प्रकृति मनुष्य पर अपना प्रभाव डालकर उसे कष्ट पहुंचाती है। इसलिए अपने ज्ञान के बल से सबसे पूर्व प्रकृति पर ही विजय प्राप्त किया जाता है। इसके बाद जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं आती हैं जिनसे संसार के परे की बातें जानने की भूख पैदा हो जाती है। अपने नियमित समय पर ऋतुओं का नियमित परिवर्तन, सूक्ष्मतम बीजों से विशालतम वृक्षों की उत्पत्ति, मनुष्य के अपने जन्म, मरण तथा इसी प्रकार की अन्य आश्चर्यजनक घटनाओं से मनुष्य सोचने लगता है कि क्या इन सब कामों का करने वाला, इनका नियन्ता कोई और भी है? यदि वह है तो क्या उसका मनुष्य से भी कोई सम्बन्ध है? यदि मनुष्य का उससे सम्बन्ध है तो फिर उसे प्राप्त करना चाहिए? फिर उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हो सकते हैं—इत्यादि प्रश्न मनुष्य के मस्तक में चक्कर काटने

लगते हैं—

जिस तरह जाड़ा, गर्मी, बरसात से शरीर में अशान्ति फैलती है। उसी तरह इन विचारों से भी मनुष्य को आन्तरिक अशान्ति घेर लेती है। यह एक अनोखी मस्तिष्क की भूख है। यद्यपि इन प्रश्नों के उत्तर से हमें कोई भौतिक सुख नहीं मिलता तब भी आन्तरिक शान्ति अवश्य मिलती है। हां तो इस प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर तत्त्व-ज्ञान या अध्यात्म-विद्या कही जाती है और यह तत्त्व-चिन्तन सभ्यता की उन्नति के मार्ग की दूसरी मंजिल है। जिस जाति ने जितना ऊंचा अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त किया हो वह जाति उतनी ही अधिक सभ्य मानी जाती है। फलतः प्राकृतिक ज्ञान की तरह आध्यात्मिक अनुसन्धान या यों कहिए कि तत्त्व-ज्ञान भी सभ्यता की दूसरी कसौटी है।

आत्म-संयम

अब तक हमनें मनुष्य के आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का मानव-जीवन में क्या स्थान है, यह देखा। पर विचार करने से पता लगेगा कि हमारा आधिभौतिक ज्ञान या यों कहिए कि प्रकृति पर हासिल की हुई विजय-संहारक भी हो सकती है। कभी-कभी जातियों का ज्ञान इतना बढ़ जाता है वह समाज के लिए आतंक हो जाता है। अभी द्वितीय महायुद्ध में हमने देखा कि यूरोप के ज्ञान-बल की आधिभौतिक सीमा परमाणु-बम है। मनुष्य के मस्तिष्क की यह उपज मानवता के लिए अभिशाप बन गई है और उसका आविष्कर्ता भी मानवता से शून्य शैतान समझा जाता है। इसी प्रकार वे अस्त्र-शस्त्र हैं, जिनके बल पर जर्मनी, अमेरिका, इङ्गलैण्ड ने यह युद्ध लड़ा। वे सब आविष्कार ज्ञान की दृष्टि से तो मनुष्य को ऊंचा उठाते हैं; पर वह ज्ञान हमारा भला न करके बुरा ही कर रहा है इसलिए यह सभ्यता की गिरावट ही समझी जावेगी। असल बात यह है कि ज्ञान स्वतः तो बड़ा पवित्र है पर उसका उपयोग दूषित होने से वह भी दूषित हो जाता ह। इसलिए ज्ञान की

वृद्धि के साथ-साथ उसके उपयोग के सन्मार्ग भी बढ़ने चाहिएं। यदि यह ज्ञान असामाजिक पाशविक वृत्तियों के हाथ में पड़ जाता है तो संसार में हाहाकार मच जाता है। इससे प्रकट होता है कि सभ्यता की पूर्णता के लिए बाहरी प्रकृति को जीतना हा पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को अपनी भीतरी प्रकृति को भी जीतना चाहिए। मानवी प्रकृति में कई प्रवृत्तियां हैं जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शान्ति और सुख के लिए नितान्त आवश्यक है। इसी से समाज का सामञ्जस्य स्थिर होता है। क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या और निष्ठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरों का जीवन क्लेशमय बना सकता है। इनको जीतना अथवा इनके वेगों को सामाजिक संवृद्धि के मार्गों में परिणत कर देना आवश्यक है। यदि ये प्रवृत्तियां उच्छृंखल हो जावें और मानव-जीवन को आक्रान्त कर बैठें तो मानव दानव हो जाता है और उसका जीवन युद्ध का केन्द्र बन जाता है। इसके विपरीत यदि अहिंसा, प्रेम, और सहानुभूति की प्रधानता हो तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग बन जाता है। ('इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनाः' इत्यादि, 'यस्मान्नोद्विजते लोकः' इत्यादि च गीतावचनम्) इस प्रकार कुप्रवृत्ति तथा सुप्रवृत्ति दोनों ही हमारे जीवन में हमेशा रहती हैं। किसी एक का सर्वथा लोप तो होता नहीं। राक्षसों में भी दया रहती है और देवताओंने भी अत्याचार किये हैं। फिर प्रश्न उठता है कि सभ्यता क्या है?

उत्तर में कहा जा सकता है स्नेह, सहानुभूति आदि सामाजिक प्रवृत्तियों की प्रधानता सभ्यता है और इसकी उलटी असामाजिक प्रवृत्तियों की प्रधानता बर्बरता। इसलिए किस समाज में किन प्रवृत्तियों की प्रधानता है—यह भी एक सभ्यता की तीसरी कसौटी है।

समाज-सेवा

इससे आगे बड़ी समस्या समाज-सेवा की है। हम देखते हैं कि व्यक्ति के अपने कार्य ही इतने बड़े हो जाते हैं कि वह अकेला उन्हें पूर्ण नहीं कर सकता। समाज के कार्य तो फिर इससे बहुत बड़े होते हैं—वे

किसी एक या दो व्यक्तियों द्वारा नहीं किये जा सकते। प्रत्युत उसकी पूर्ति के लिए बहुत से समाज-सेवियों की सेवाएं आवश्यक होती हैं। गांव में किसी किसान की झोंपड़ी का छप्पर डालना हो तो सारा गांव एकत्रित होकर ही उसे उठावेगा, एक व्यक्ति नहीं उठा सकता। इसी प्रकार समाज की बहुत-सी समस्यायें होती हैं। उसके लिए समाज को सदा उद्यत रहना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब व्यक्ति में सामाजिक चेतना होगी। इसलिए कह सकते हैं कि सामाजिक चेतना से प्रेरित होकर समाज की सेवा करना सभ्यता की चौथी कसौटी है।

सामञ्जस्य

संसार में बहुत से व्यक्ति हैं जो धनी भी हैं, विद्वान् भी हैं, और चरित्र-वान् भी। समाज-सेवी भी वे हैं, किन्तु फिर भी उन्हें सुख नहीं मिलता, शांति नहीं प्राप्त होती। हृदय के अन्दर एक बड़ा अन्तद्वन्द्व चलता रहता है। वे उस अशांति के शिकार हैं। इसी तरह बहुत से समाज भी हैं जिनमें धन, सुख, चरित्र समाज-सेवा सब कुछ है, पर आन्तरिक शान्ति नहीं। इसका कारण यह होता है कि वे व्यक्ति या समाज अपने-अपने अन्दर सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सकते। किसी शारीरिक या मानसिक शक्ति की अत्यधिक प्रबलता हो जावे और अन्य शक्तियां अविकसित पड़ी रहें तो जीवन अधूरा रह जावेगा और सुख तथा शांति दूर भाग जावेंगे। व्यक्तित्व की पूर्णता इसमें है कि सब शक्तियों तथा वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार हो। उनमें आपस में विरोध न हो बल्कि बुद्धि के द्वारा सबका संगठन तथा सामञ्जस्य कर दिया जावे। जिस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए हमें सभी शक्ति तथा वृत्तियों के विकास की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार समाज के विकास के लिए भी उसमें भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास तथा सामञ्जस्य की आवश्यकता पड़ती है। अतः व्यक्तिगत तथा सामाजिक सामञ्जस्य भी उन्नति का साधक है, हम इसे भी सभ्यता की पांचवीं कसौटी

समझते हैं ।

इस प्रकार सभ्यता की परीक्षा के लिए पांच कसौटियां स्थिर की जा सकती हैं:—

(१) ज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय ।

(२) तत्त्व-ज्ञान के द्वारा विश्व, आत्मा तथा परमात्मा एवं जीवन-मरण आदि की पहेलियों को सुलझाना।

(३) मानवीय चित्त-वृत्तियों का संयम ।

(४) सामाजिक हित एवं सेवा का व्यापक भाव ।

(५) व्यक्तिगत और सामाजिक सामञ्जस्य ।

हमारी सभ्यता में प्रकृति-विजय

पीछे हमने देखा कि सभ्यता को किन बातों से मापा जाता है । अब आइए यह देखें कि इन माप-दण्डों से हमारी सभ्यता का स्थान संसार में कौन-सा है । सबसे पूर्व हम प्रकृति-विजय को लेते हैं। हम पूर्व में कह चुके हैं कि ऋग्वेद के समय में भी भारतीय ऐसी नौकाओं का प्रयोग करते थे, जिनमें हज़ार-हज़ार मनुष्य सवार हो सकते हों । इसके अलावा अनेकों चिन्ह अब तक ऐसे शेष हैं जिनसे पता लगता है कि इस दिशा में आर्यों ने और देशों से कहीं अधिक उन्नति की थी । अशोक के समय के शिला-लेखों से साफ मालूम पड़ता है कि उसने अपने साम्राज्य भर में स्थान-स्थान पर सड़कें, कुंए, बावड़ियां और बगीचे बनवाए थे । देश-देशान्तरों से मंगाकर उत्तम-उत्तम औषधियों के बगीचे लगवाए थे । महाराजा रामचन्द्रजी द्वारा बांधा गया पुल भी इसी ओर संकेत करता है । आकाश के नक्षत्रों की गति, उनका मानव-जीवन पर प्रभाव, गणित-विद्या, भूमिति-शास्त्र, आदि पर हमारे पूर्वजों के सिद्धांत आज तक संसार भर में अपनी बराबरी नहीं रखते । उन्होंने ऐसी दवाओं का पता लगाया जो आज भी उपयोगी ही नहीं, बल्कि आश्चर्यकारक हैं । सांख्य वालों के सत्त्व, रजस् तमस् और आयुर्वेद शास्त्र, के वात, पित्त, कफ का आविष्कार क्या आश्चर्यजनक नहीं है ।

चरक का शल्य-शास्त्र, स्थापत्य-कला, पत्थरों से मूर्ति-निर्माण-कला आदि तो चरम सीमा तक पहुंचाये गए हैं। वे और ब्राह्मणों के समय से ही भारतीय इस बात को पहचानते थे कि वर्षा किस प्रकार की जा सकती है 'आदित्याज्जायते वृष्टिरित्यादि'। नहर, और तालाब का बांध बनाने में वे किसी से भी कम नहीं थे। मनोविज्ञान के भारत के सिद्धांत आज भी बहुत मार्के के हैं। राजनीति की विवेचना भी ऊंचे दर्जे की है। महाभारत के शांति पर्व तथा कौटिल्य की कूटनीति को संसार आज भी पढ़ सकता है। वह वहां तक पहुंचा नहीं। योग-शास्त्र का मानसिक प्रवृत्तियों का चमत्कारी विश्लेषण एकदम अभूतपूर्व वस्तु है। यह सच है कि गत दो सौ वर्षों से यूरोप ने वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मचा दी है और दिन दूनी रात चौगुनी एसी उन्नति की है कि संसार की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, पर सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप का प्राकृतिक विज्ञान भारतीय विज्ञान से किसी भी रूप में आगे नहीं, बल्कि पीछे था। जिस समय यूरोप ने इस दिशा में उन्नति की थी उस समय तो भारतवर्ष दूसरी जातियों की एड़ियों से कुचला जा रहा था, उसे अपने प्राणों के लाले पड़ थे। वह जीवन और मृत्यु के बीचमें साँसे ले रहा था। उन संकटों से अपने सत्त्व की रक्षा कर ली, यह भी इसके लिए बहुत है।

हमारी सभ्यता में तत्व-ज्ञान

इसके बाद दूसरी कसौटी तत्त्व-ज्ञान या अध्यात्म-विद्या की आती है। इसके विषय में तो अधिक कहना प्रत्यक्ष में प्रमाण देने के ही बराबर होगा। इस विषय में तो आज ही नहीं सैंकड़ों वर्ष पहले भी भारतवर्ष संसार का गुरु बनने का दावा करता था। वेदान्त दर्शन का अद्वैतवाद न केवल अध्यात्म-विद्या की दृष्टि से अपितु भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी अभी तक संसार के लिए अनुसन्धान का विषय है। न्याय के परमाणुवाद पर जगत् हजारों वर्षों की वैज्ञानिक यात्रा के बाद आज पहुंचा है। सांख्य दर्शन की सुख-दुःख-मीमांसा, त्रिगुण सिद्धांत, प्रकृति-पुरुष के सूक्ष्म

समीक्षण आदि साधारण तत्त्व-ज्ञान नहीं कहे जा सकते। उपनिषदों के बताये गए आत्म-शांति के सरल मार्ग ने यूरोप के तत्त्व-ज्ञानियों को भी शिष्य बनाया है। मैक्समूलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मानव। मस्तिष्क ने सबसे बड़े सिद्धांत और सबसे बड़ी युक्तियां हिंदुस्तान में ही निकालीं। जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक शोपनहार ने कहा था कि उपनिषदों से मुझे अपने जीवन में शांति मिली है और उपनिषदों से ही मुझे अपनी मौत में शांति मिलेगी। हाउस्टन स्टुअर्ट चैम्बरलैन आदि भी, जो सदा जर्मन जाति के ही गीत गाया करते थे। इतना तो मान ही गए हैं कि तत्त्व-ज्ञान में भारतीयों की बराबरी कोई नहीं कर सकता। वे लोग कह चुके हैं कि विश्व की पहेली कभी-न-कभी सबके सामने आती है। इस प्रश्न से कोई बच नहीं सकता कि मौत के बाद क्या होता है, हिंदुओं का स्वभाव इतना गम्भीर था कि इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना वे चैन नहीं पा सकते थे।

यह भी हिन्दुओं ने समझ लिया था कि तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में मत-भेद अनिवार्य होता है। यद्यपि इस बात को दूसरी जातियाँ १९ वीं सदी तक समझ पाईं। सत्य की खोज में सहनशीलता से काम लेना चाहिए। भारतीय दर्शनों की यह बड़ी विशेषता है कि वहां मतभेदों की अपूर्व सहन-शीलता और विचारों की सराहनीय स्वतन्त्रता है। एक दार्शनिक ईश्वर को मानता है तो दूसरा नहीं मानता। तीसरा तीसरी बात मानता है। इस प्रकार छः दर्शन आस्तिकों के और छः हीं नास्तिकों के बने। विचारों के संघर्ष के बाद जाति को विलक्षण दार्शनिक सत्य मिले; जो बिना संघर्ष के मिल ही नहीं सकते थे। इस प्रकार भारतवर्ष का स्थान दार्शनिक-ज्ञान में बहुत ऊंचा है। दार्शनिकों की जाति (Philosophers nation) नाम भारतवर्ष को ही मिल सका; औरों को नहीं।

हमारी सभ्यता में आत्म-संयम

आइए अब तीसरी कसौटी से अपनी सभ्यता को परखें। यह कसौटी
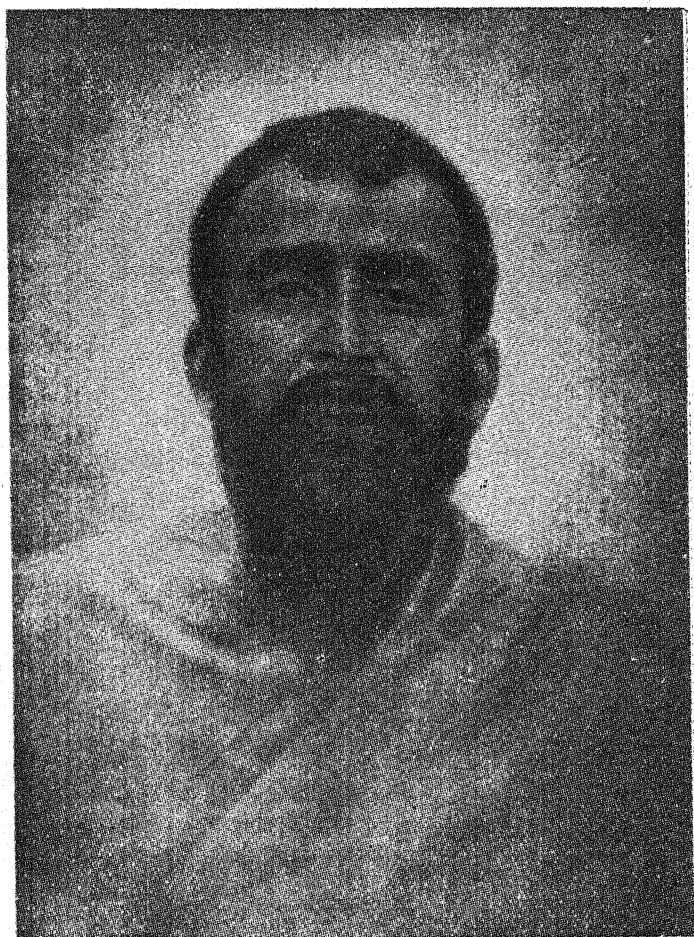
श्री रामकृष्ण परमहंस
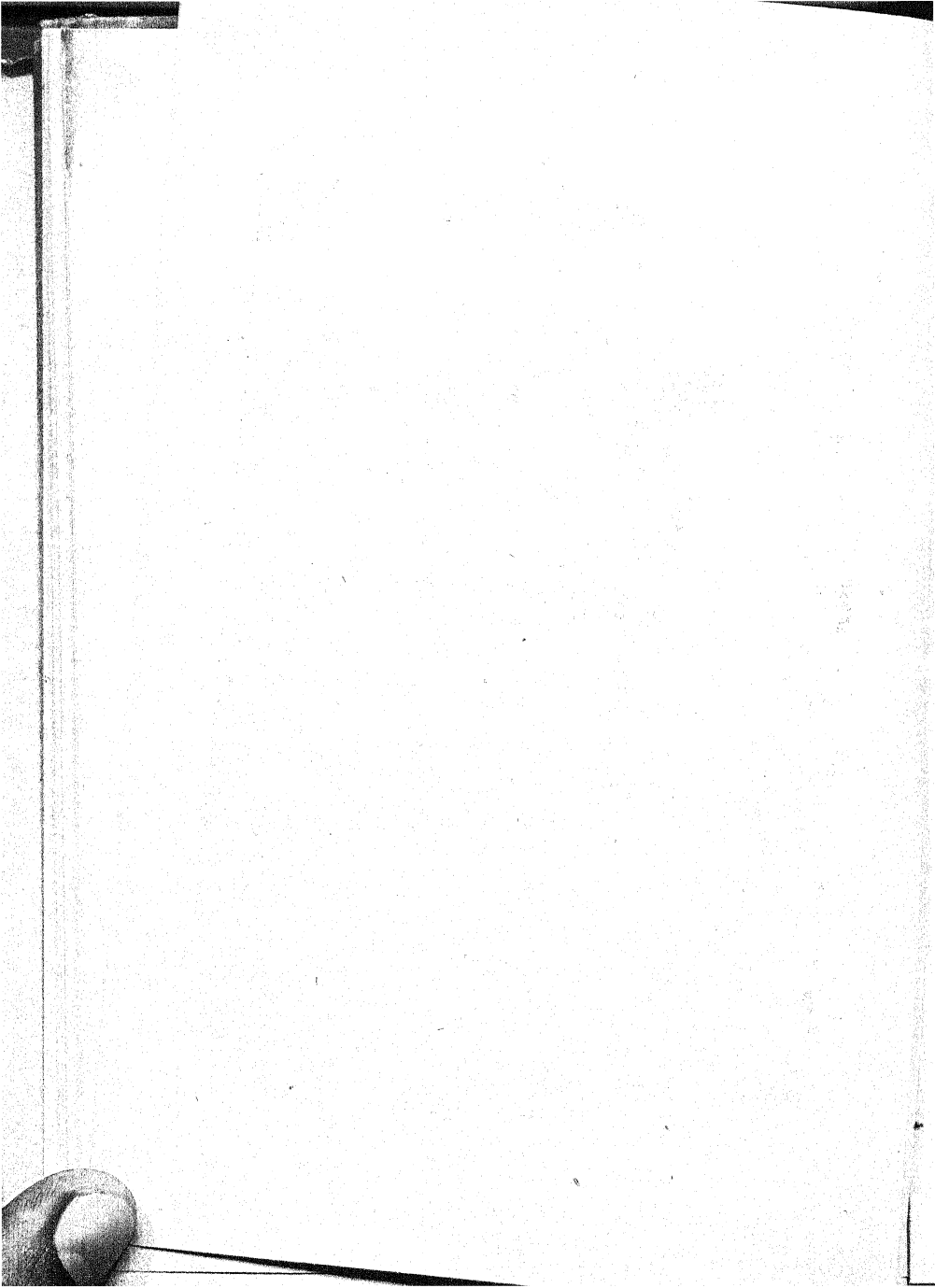
आत्म-संयम का है। भारतीय इस बात को भली-भांति जानते थे कि सूखे ज्ञान-मात्र से संतोष नहीं होता। उस ज्ञान के आधार पर अपने व्यक्तित्व को ऊंचा उठाना चाहिए। उन्होंने ऐसा ही किया। वे इस बात को भली-भांति जानते थे कि मनुष्य चाहे और कुछ करे या न करे उसे अपनी प्रकृति पर विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, मात्सर्य आदि असामाजिक मानव-प्रकृतियों की हमारे इतिहास में कितनी निन्दा है? और इन्हें दमन करने का कितना प्रयास किया गया। उसमें सफलता भी भारतीयों से अधिक किसी ने भी नहीं पाई। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि धर्मों में जितने नीति-शास्त्र सम्बद्ध हैं, उन सब में आत्म-संयम कूट-कूटकर भरा है। भगवान् बुद्ध से अधिक संसार का कौन महापुरुष आत्म-संयम कर सकेगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, का इन्द्रिय-दमन और उससे मिली आश्चर्यजनक सफलता तो निकट अतीत की हीं बात है। हमारे पुराण साहित्य में तो ऐसे-ऐसे ऋषियों की तपस्याओं का वर्णन है जिनकी समाधि-अवस्था में उन पर दीमक चढ़ गई थी और वे उसी में ढक गए थे। महर्षि बाल्मीकि, ऋषि च्यवन ऐसों में से ही हैं। कर्मयोगी भीष्म का-सा आत्म-संयम संसार के इतिहास में शायद ही कहीं मिले। और यह दृष्टांत अपवाद स्वरूप इने-गिने नहीं हैं। गुरुकुलों में बालकपन से ही जीवन के चौथाई भाग तक आत्म-संयम बड़ी कठोरता से सिखाया जाता था। गृहस्थियों को भी संयम का उपदेश दिया जाता था। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम तो आत्म-संयम के क्रियात्मक रूप ही थे। हिन्दुओं का त्याग ऊंचे दर्जे का था। ऐसे दृष्टान्त अनेक हैं जो विशाल राज्यों को पुराने कपड़ों के समान त्यागकर अपनी ध्येय-पूर्ति में लग जाते थे। हिन्दू धर्म का प्रधान अंग या लक्षण संयम है; फलत: हिन्दू सभ्यता में संयम की प्रशंसा से यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि भारतवर्ष के प्रत्येक नर-नारी आत्म-संयमी थे। ऐसा होता तो आपस में युद्ध क्यों होते। ऐसा तो किसी समय किसी जाति में नहीं हो सकता। देखने की बात यह है कि भारतीयों

ने इस सभ्यता के चिन्ह को अपने आदर्शों में रखा है या नहीं—तथा इसके अनुसार जीवन को ढालनें का प्रयास किया है या नहीं। यह मानना पड़ेगा कि इस माप-दण्ड से भी भारतीय सभ्यता ऊंची जंचती है। यदि भारतीय नारी की आत्म-संयम के माप-दण्ड से अन्य देशों की नारियों से तुलना की जावे तो निःसंकोच उसका पहला स्थान होगा। मानवीय प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का बड़ा प्रयत्न केवल धर्म-शास्त्रों में ही हमें मिलता हो—ऐसा नहीं है। मूर्तियों तथा चित्रों में, मन्दिरों तथा मठों में आत्म-संयम की झलक स्पष्ट है; बल्कि हिन्दू-कला का समीक्षण ही इस दृष्टि से करना चाहिए कि कलाकार ने कितना संयम उसमें रखा है। गौतम बुद्ध की जितनी मूर्तियां मिलती हैं—उन सबमें आत्म-संयम मूर्त रूप में बैठा प्रतीत होता है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रथमतः इन्द्रिय जीतने वालों की ही मूर्तियां हैं। ब्राह्मण धर्म में यह चीज कम न थी। हिन्दुओं के उपास्यदेव शिव ही कामदेव को भस्म करते हैं। वही हमें शिव की मूर्तियों में मिलता है। सब लोग ऐसा मानते हैं कि कि ग्रीस की मूर्ति-कला में शारीरिक सान्दर्य तथा भारतीय मूर्ति-कला में नैतिक सौन्दर्य है। हिन्दू चित्रों में भी संयम को प्रकट करने का प्रयास है। बल्कि इस विषय पर हम यह कहना भी अनुचित नहीं समझते कि हमारे पूर्वजों ने असामाजिक प्रवृत्तियों का आवश्यकता से अधिक दमन किया और उसके परिणामस्वरूप समाज में दोष उत्पन्न हो गए। उदाहरण के लिए अभिमान को ले लीजिए। यह प्रवृत्ति असामाजिक है। इससे मनुष्य दूसरों को तुच्छ समझता है और उससे उपद्रव होते हैं। पर यदि अभिमान का मूलोच्छेदन कर दिया जावे तो व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाता है। जीवन-चक्र का केन्द्र ही बिगड़ जाता है। आवश्यक यह है कि इस अहम् भाव को सामाजिकता से भर देना चाहिए। उसका नाश नहीं। हमें अभिमान हो, परन्तु अपने चरित्र का हो, अपनी अहिंसा का हो, अपनी समाज-सेवा का हो। इसी प्रकार दया को ले लें। सीमा से अधिक दया कायरता बन जाती है। समाज पर सामूहिक तथा व्यक्तिगत अनेकों

आपत्तियां आने लगती हैं। इसलिए हिंसा-वृत्ति का अनुचित दमन नहीं करना चाहिए।

हमारी सभ्यता में समाज-सेवा

इसके बाद सभ्यता का चौथा लक्षण समाज-सेवा है। समाज-सेवा में समाज के अर्थ का निर्णय भी आवश्यक है। समाज शब्द का यदि संकीर्ण अर्थ किया जावे तो प्रत्येक जाति समाज-सेवा में लगी प्रमाणित होती है। अपनी स्त्री, बच्चे, भाई, बहन की सेवा सभी करते हैं, यह भी संकीर्ण अर्थ में समाज है। यदि वास्तव में व्यापक अर्थ में समाज को लिया जाय तो मानव-मात्र समाज में आ जाता है। इस दूसरे व्यापक अर्थ की दृष्टि से संसार की कोई जाति समाज-सेवी नहीं कही जा सकती। अपने देशवासियों की अपेक्षा दूसरे देशवासियों से घृणा करना प्राय: सबमें मिलता है। आज तक वह चीज मौजूद है। बल्कि इस दृष्टि से भारत की सभ्यता अच्छी है। विदेशियों के प्रति घृणा का भाव भारत में नहीं है। बहुत-सी जातियां उसी भावना के फलस्वरूप भारतीयों में मिल चुकी हैं। उदार चित्तों का कुटुम्ब समस्त संसार है। यह हमारा आदर्श है। पर समाज शब्द का यह अर्थ, जो अभी तक आदर्श ही है, व्यवहार में नहीं आया। साधारणतया इसका अर्थ अपने देशवासियों का होता है। अपने साथियों और पड़ोसियों का होता है। इसमें कहना पड़ेगा कि भारतवर्ष अधिक उन्नति नहीं कर पाया। जातियों के भेद, वर्णों के भेद, धार्मिक विचारों के भेद ने पारस्परिक सहानुभूति को घटाया। नीच वर्णों का यहां अपमान हुआ है। समानता का भाव सम्पूर्ण समाज में नहीं था। जीवन के व्यवसाय नियत थे। चमार का लड़का चमार का ही काम कर सकता था, पढ़ाने का नहीं। राष्ट्रीयता का भाव इसीलिए उदय नहीं हो सका। हिन्दुत्व का भाव भी मुसलमानों के अत्याचारों के फलस्वरूप बाद में पैदा हुआ। इस कमी का फल भी जाति ने भोगा। विदेशियों के अनेकों आक्रमण हुए और उनमें देश इसलिए पराजित हुआ,

क्योंकि संगठन नहीं था। वे मुकाबला न कर सके।

हमारी सभ्यता में सामञ्जस्य

अस्तु सामाजिकता तथा समाज-सेवा की दृष्टि से हिन्दू सभ्यता को वैसी सफलता नहीं मिली जैसी और मामलों में हुई। तो भी यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक, आर्थिक, एवं धार्मिक मामलों में आपस में एक सामञ्जस्य (Adjustment) होगया था। एक तरह की व्यवस्था बंध गई थी। एक समझौता चलता था और वह शताब्दियों तक चला। प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेता था, प्रत्येक उपजाति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वतंत्र थी। शेष प्रयोजनों के लिए छोटे-छोटे राज्य और बड़ी-बड़ी बातों के लिए बड़े-बड़े राज्य थे। प्रश्न असल में यह है कि हमारे जो विचार, भाव और प्रवृत्तियां हैं उन्हें सामाजिक कैसे बनाया जावे। इसके लिए कुछ सिद्धान्त, कुछ संस्थाएं चाहिएं। भारतीयों नें जो बातें निकालीं इस सिलसिले में संघ-प्रथा का उदाहरण दिया जासकता है। सैकड़ों हजारों मील के भू-भाग पर उस अवैज्ञानिक काल में केन्द्रीय शासन नहीं होसकता था। पर इसके साथ-साथ राजनीतिक संघ-प्रथा के बल से हिन्दू राज्य ने जनता की बड़ी सेवा की यह संघ-प्रथा आर्थिक जीवन में भी थी। व्यापारियों की श्रेणियां बन जाती थीं। जो बहुत हद तक व्यापारिक मामलों में स्वतन्त्र थीं। धार्मिक सहिष्णुता भी सामञ्जस्य का रूप है। भारतीय धर्म में व्यापकता और सहिष्णुता सबसे अधिक है। अपने अनुयायी को विचार और पूजा की स्वतन्त्रता जैसी हिन्दू धर्म देता है वैसी और कोई नहीं। चाहे कोई केवल एक परमेश्वर को मानें चाहे अनेक देवताओं को, द्वैतवादी हो या अद्वैतवादी, कर्म-काण्डी हो या योगी, सबको यहां स्थान है। मानो यह राजनीतिक संघ सिद्धान्त का धार्मिक व्यवहार है।

इसी उदारता के बल पर हिन्दुओं ने अनेकों अनार्य मतों को भारतीयता में समेट लिया। तीसरी बात अहिंसा का सिद्धान्त है। यद्यपि

अहिंसा का आदर्श सब धर्मों में है, पर इसका क्रियात्मक रूप हिन्दू सभ्यता में ही मिलता है। बौद्ध और जैन धर्मों का तो आधार ही यह है। सनातन धर्म को भी यह मान्य है। सर्व-हित-चिन्तन भारतीय आचार का सबसे बड़ा गुण है। सबसे ऊंचा आदर्श, जो मानवीय मस्तिष्क रखता है, वह अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना पालन किया जायगा उतना ही अधिक समाज में सुख बढ़ेगा। संसार में इस आदर्श का प्रयोगात्मक परीक्षण नहीं हुआ। भारतवर्ष को इस बात का गर्व है कि इसने अपने अन्दर ऐसे वर्ग और सम्प्रदाय तैयार किए जो अहिंसा को न केवल धार्मिक बल्कि राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रयोग करते रहे हैं। आज भी गांधी जी को सामने रखकर भारतवर्ष संसार भर में श्रेष्ठ है। जब संसार इस आदर्श का पूरा प्रयोग करेगा तब जीवन का पूर्ण सामञ्जस्य होगा और गौतमबुद्ध, महावीरस्वामी, एवं महात्मा गान्धी सरीखे उपदेशक संसार के—जीवमात्र के—सबसे बड़े हितैषी माने जायेंगे।

इस तरह हमने देखा कि सभ्यता की पांचों कसौटियों में भारतीय सभ्यता सबसे ऊंची प्रमाणित हुई है।

चौथा भाग

सामाजिक संगठन

हमारी सभ्यता का स्वरूप

भारत की सामाजिक व्यवस्था दूसरे देशों से भिन्न है। और भिन्न भी इसलिए नहीं है कि दूसरे देशों में समाज व्यवस्थित रहे हों और भारतवर्ष में अव्यवस्थित। बल्कि उससे उलटा यह है कि भारत का समाज अत्यधिक व्यवस्थित बन गया था। सारा समाज चार वर्णों में बंटा हुआ था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाग वेदों के समय से आ रहा है। इसके अनुसार बहुत समय तक हमारी जाति सुखपूर्वक रही है। इसकी छान-बीन भी की जाये तो यह इतनी बुरी नहीं है; जितना इसे समझा जाता है। इसमें सुधार करने की आवश्यकता है।

सम्पूर्ण समाज के लिए जो-जो कर्त्तव्य आवश्यक हो सकते हैं उन सबको चार भागों में बांटा गया है। (१) मस्तिष्क का ज्ञान सम्बन्धी कार्य, (२) शारीरिक बल से किया जाने वाला वीरतापूर्ण रक्षण एवं शासन का कार्य (३) आर्थिक कार्य और (४) सेवा-कार्य। समाज-संबंधी जितने कर्त्तव्य हैं वे प्रायः सभी इसी वर्गीकरण में आ जाते हैं। प्रत्येक समाज में, चाहे किसी देश का हो, इन कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए पृथक्-पृथक् वर्ग होते हैं। जहां भारतीय सामाजिक प्रथा नहीं है वहां भी यह वर्गीकरण मिलता है। सैन्य-संचालन, युद्ध, शासन, रक्षण आदि

एक वर्ग करता है तो दूसरा वर्ग धार्मिक आदर्शों का अनुसन्धान तथा निर्धारण, उनका प्रचार और परिशीलन करने में लगा है। व्यापार करने वालों का वर्ग अलहदा है, तो शारीरिक काम करने वालों का अलहदा। इस प्रकार प्रायः सर्वत्र ही कार्य का विभाजन (Division of labour) होता है। समाज का यह नियम है कि मनुष्य जो काम करेगा उसके अनुसार उसे अधिकार भी मिल जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो वह कार्य ही न कर सके। स्कूल में पढ़ाने वाले अध्यापकों को बालकों को दण्ड देने का अधिकार न हो तो वे पढ़ाने का कार्य नहीं कर सकते। उनकी छुट्टियां मजदूरों से अधिक होनी चाहिएं। इसी प्रकार देश की सीमा पर होने वाली लड़ाई में भाग लेने के लिए जब सैनिक दौड़े जा रहे हों तो अध्यापक को यह अधिकार नहीं कि वह अपनी कक्षा का सड़क में बिठाकर पढ़ाने लगे और उनका रास्ता रोके। सेना के अधिकार को छीना जायगा तो वह अपना काम नहीं कर सकेगी। इसलिए कर्त्तव्यों के साथ प्रत्येक का अधिकार भी होता है। हाँ तो कर्त्तव्यों का विभाजन और उसके अधिकार तक की बात ठीक है; इतना होना ही चाहिए। भारतवर्ष में पहले सामाजिक कर्त्तव्य और अधिकारोंका विभाजन मात्र था। उस विभाजन में फिर आगे यह परिवर्तन हुआ कि उन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को पैतृक बना दिया गया। यज्ञ कराने वालों के पुत्रों ने भी यज्ञादि कराए। शासकों के लड़कों ने भी शासन किया, परिणामतः वह वस्तु पितृ-परम्परागत बन गई, समय और परिस्थितियों के प्रभाव से यह दृढ़ होती चली गई एवं वर्गों में आपस में ऊंच-नीच का भाव पैदा हो गया। पहले ऐसा नहीं था। चारों वर्ग एक ही पिता की सन्तान समझे जाते थे। परस्पर घृणा नहीं थी, प्रेम था। सबको यह पता था कि समाज के संचालन के लिए प्रत्येक कार्य आवश्यक है। जिस प्रकार अध्यापकों के न होने से जाति मूर्ख रह जायगी, तो कपड़ा धोने वाले, हजामत बनाने वाले, मकान बनाने वाले आदि के बिना भी जीवन दुर्भर हो जायगा। जब तक यह भावना रही, भारतीय समाज सुख से रहा।

पर बाद में वर्ग-बन्धन अत्यन्त दृढ़ हो गया, रोटी-बेटी का सम्बन्ध टूट गया। प्रेम के स्थान पर कटुता और भेद-भाव आ गए। स्पर्श्या स्पृश्य के विचारों नें इसे और भी असामाजिक बना दिया। वास्तव में इस व्य-वस्था को चलाने वालों का भाव ऐसा नहीं था। इसके अनुसार समाज ने चलकर बहुत से लाभ भी प्राप्त किये हैं और हानियां भी। कर्त्तव्यों का वर्गों में निश्चय हो जाने से कार्य-क्षमता और निपुणता बढ़ी। मस्तिष्क के काम करने वालों की सन्तानों ने भी वही कार्य किया। उन्हें बहुत सारा उन्होंने अनुभव अपने पूर्वजों से मिला और कुछ आप कमाया। सब मिला कर ज्ञान-विज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति की। अपने काम को वे श्रद्धा और गौरव के साथ करते थे। पर साथ ही हानियां भी हुईं। यह प्रकृति का नियम नहीं कि पढ़ाने वाले का लड़का नियम से पढ़ाने वाला ही बने। उसकी शक्ति और सुझाव पृथक् हो सकते हैं। उसे क्यों बाधित किया जाय कि वह वही कार्य करे। दूसरी ओर हाथ-पैर का काम करने वालों में ऐसा भी बालक पैदा हो सकता है जिसे शासन, या नियमों के निर्माण में बहुत सफलता मिले। उसके लिए दरवाजे खुले रहने चाहिएं, फिर तो कोई दोष नहीं। इस बात का हमारी सभ्यता में कमी रही। उदारता जैसी पहले थी, वैसी न रह पाई। इससे समाज को बहुत-सी हानि उठानी पड़ी। यदि यह प्रतिबन्ध भारतीय समाज में न होता तो हमारी सभ्यता और भी आगे बढ़ती।

धार्मिक विचार

हमारी सभ्यता में धार्मिक विश्वासों का स्थान बड़ा व्यापक है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जो धार्मिक भावनाओं से प्रभावित न हुआ हो। राजनीति, अर्थोपार्जन, तथा अन्य दुनियवी सफलताएं धर्म की सीमा में ही प्रवेश करती थीं उसका विशद विवेचन करने के लिए तो स्थान नहीं है, साधारण और सरल रीति से ही उसे कहा जा सकता है। हमारे सबसे पहले धार्मिक ग्रन्थ वेद हैं। वहां से प्रत्येक प्रकार की
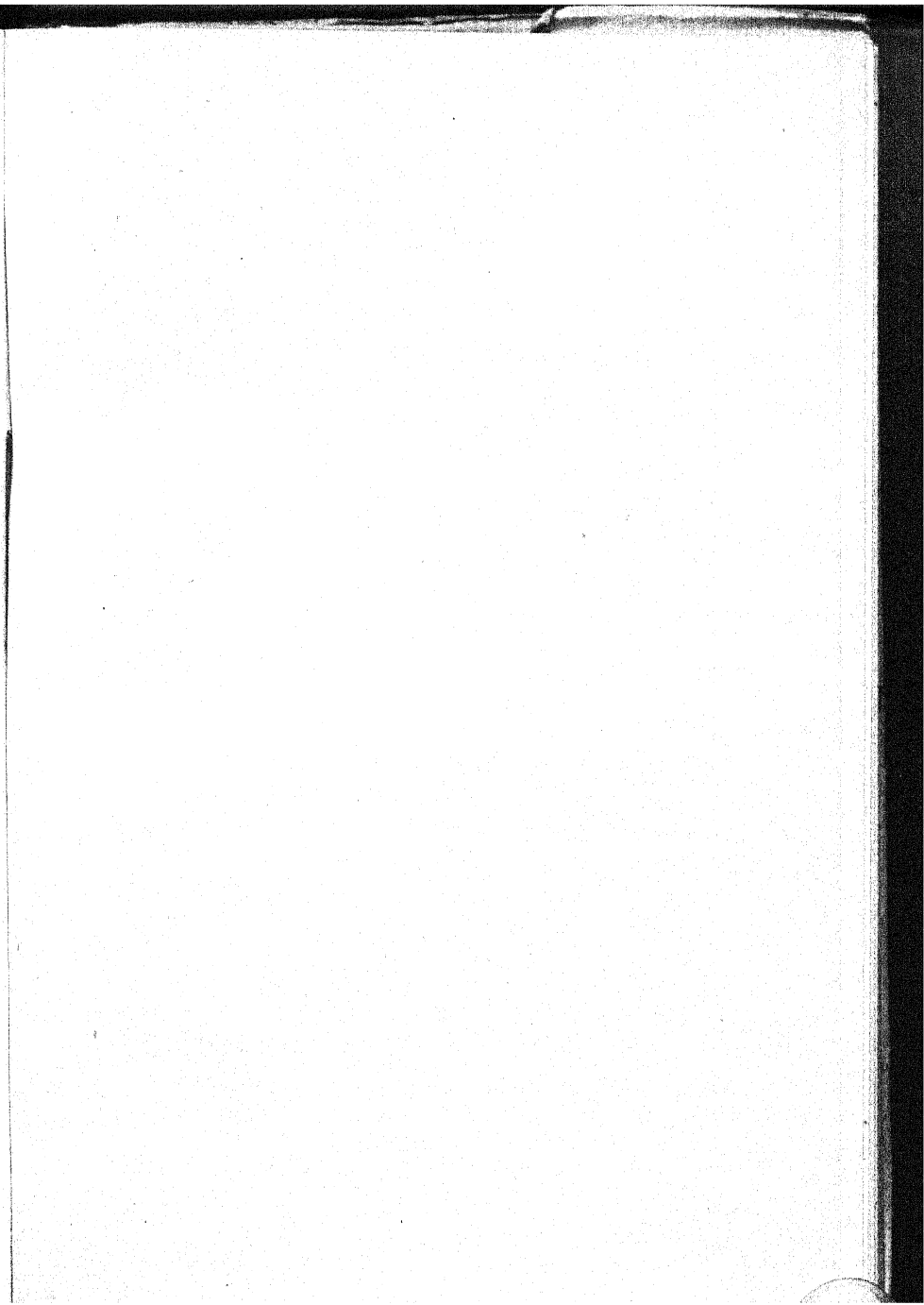
श्री वल्लभाचार्य

धार्मिक भावना का उदय होता है। और उन वेदों का ऐसा प्रभाव हिन्दू आचार पर रहा है कि तब से अब तक के सम्पूर्ण जीवन की मर्यादाएं वेदों के वचनों से बंधी हैं। आज भी—ऐसी कोई धार्मिक व्यवस्था स्वीकार नहीं होती जो वेदों के वचनों से पुष्ट न की जावे। बीच में लगभग एक हजार वर्ष तक बौद्ध तथा जैनियों ने वेदों के बिना अपने धार्मिक नियम बनाये। इन धर्मों ने स्पष्ट रूप से वेदों की निन्दा की। उन्हें अनुपादेय सिद्ध किया और ये लोग वेदों के समय से ही चले आ रहे हैं और वेद-काल में भी थे। उन्हीं की शाखा आगे बढ़ी। इस प्रकार भारतीय धर्म की दो शाखाएं आरम्भ से ही चलती हैं एक वेदानुयायी दूसरी उसके विपरीत।

वेदानुयायी धर्म

पहले हम वेदानुयायी धर्म का परिचय देते हैं। वैदिक समय से लेकर आज तक इस धर्म में वेदों की प्रधानता रही है। भारतीयों के विश्वास के अनुसार तैंतीस देवता होते हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और एक प्रजापति तथा एक वषट्कार। ये तैंतीस देवता भूलोक, भुवर्लोक (आकाश) तथा स्वर्गलोक (स्वर्ग) में निवास करते हैं। इन देवताओं का वेदों में बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। पर वहां की विशेषता यह है कि देवताओं का वर्णन प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन से मिलता-जुलता है। उदाहरण के लिए बारह आदित्यों में अग्नि, सूर्य, आदि का जो वर्णन है वह दुनिया में दीखने वाली अग्नि और सूर्य से मिलता है। बल्कि बहुत से लोगों को इतना तक भ्रम हो जाता है कि वेदों में देवता आदि कुछ नहीं शुद्ध प्राकृतिक पदार्थों का (Natural Phenomenae) का ही वर्णन है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ऋषियों ने अपने अनुभव से यह देखा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं के मालिक इनके सचालक इन्हीं का अधिष्ठातृ शक्तियां हैं। जिस प्रकार मिठास की बाहरी शक्ल गुड़, शक्कर या चीनी है, पर मिठास इससे

पृथक् वस्तु है—इसी प्रकार इन प्राकृतिक वस्तुओं में इनसे भिन्न इन्हीं की अधिष्ठातृ शक्तियां हैं। उनका अनुग्रह मनुष्यों को सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य और आमोद-प्रमोद देता है। इसलिए उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। उनके प्रसादन के दो प्रकार हैं। यज्ञों में उनके लिए आहुतियाँ छोड़ी जायं और मन्त्रों द्वारा उसकी स्तुति की जावे। यह कर्म-काण्ड है उनकी अर्चना है। उन्हीं देवताओं की अपने धार्मिक ग्रन्थों के नियमों के अनुसार प्रतिमाएं बना ली जायं उनकी पूजा की जावे और स्तुति कर उनसे वरदान माँगा जाय; यह उपासना है। इसी का स्वरूप मन्दिरों का निर्माण तथा उनकी व्यवस्थाएं हैं। जब वे देवता प्रसन्न होते हैं तो इस जीवन के उपरान्त देवलोक में मनुष्य जाता है; यही स्वर्गलोक है। यहां सुख ही मिलता है दुःख नहीं। यहाँ की प्रत्येक वस्तु देदीप्यमान होती है। मनुष्य वहां जो चाहता है वही उसे मिलता है। यह उत्तम लोक है। इसके भिन्न अन्तरिक्ष लोक में रहने वाले पितृगण हैं। इस लोक का नाम पितृलोक भी है। जो पितरों की पूजा करते हैं; वे पितरों की प्रसन्नता स्वरूप पितृलोक को जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग पृथ्वीलोक के निवासी भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं वे उनमें मिल जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म एवं उपासना के द्वारा देवों, पितरों व भूतों की प्रसन्नता प्राप्त करना हिन्दू-जाति के धार्मिक विश्वासों का केन्द्र बना है। यह भक्ति मार्ग है। इस प्रकार देव, पितर, और भूतों को प्रसन्न करने से सुख तो मिलता है पर वह हमेशा कायम नहीं रहता। अपने किये कर्मों के फल का भोग करने के बाद फिर इसी लोक में आना पड़ता है। इसलिए और कोई ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए जिससे आवागमन नष्ट हो जावे। वह मार्ग ज्ञान का है। ये जो भिन्न-भिन्न देवता हैं वे सब एक ब्रह्म के स्वरूप हैं। जिस प्रकार एक ही मनुष्य दफ्तर में क्लर्क, घर में अपने पुत्र का पिता, खेल के मैदान में खिलाड़ी, दुकान पर व्यापारी आदि बन जाता है इसी प्रकार एक ही शक्ति भिन्न देवताओं के स्वरूप में है। इसलिए उस शक्ति की प्राप्ति

करनी चाहिए। उसे प्राप्त करने के उपाय ऊपर बताए कर्म और उपासना नहीं हो सकते; क्योंकि वे तो पितृलोक या स्वर्गलोक तक ले जाने वाले साधन हैं। उस शक्ति की प्राप्ति तो ज्ञान के द्वारा हो सकती है। इस ज्ञान की फिर कई धाराएं आगे चलकर बताई जायंगी। यहां सूक्ष्मतया यही लिखना पर्याप्त होगा कि इस ज्ञान-मार्ग का आदि-स्रोत वेद तथा उसी के अंग उपनिषद हैं। पूर्व वर्णित उपासना और कर्म का स्रोत भी वेद तथा उसके अंगभूत ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ये दोनों मार्ग आपस में भिन्न नहीं हैं। इसीलिए दोनों में कोई विरोध नहीं हैं। कर्मोपासना का मार्ग सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए है। जब कर्म और उपासना से हृदय शुद्ध हो जावे और सूक्ष्म तत्त्वों का चिन्तन करने का सामर्थ्य हो जावे तो उस मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग को अपनाया जाता है। एक प्रकार से भक्ति-मार्ग ज्ञान-मार्ग की तैयारी का साधन है। पर इतना भेद है कि ज्ञान-मार्ग का अनुयायी बिना उपासना और कर्म किये भी बन सकता है। इस ज्ञान मार्ग में उपास्य शक्ति का कोई आकार नहीं होता। वह तो ध्यान करने की वस्तु रह जाती है, देखने की नहीं। भक्ति तथा ज्ञान दोनों को योग्यता के भेद से बताने वाला प्राचीन हिन्दू धर्म हैं। इसी का नाम सगुणोपासना तथा निर्गुणोपासना है। हिन्दू धर्म में दोनों का समावेश है।

अवैदिक धर्म

जैन धर्म

हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दू-धर्म की दो शाखाएं हैं—वैदिक और अवैदिक। वैदिक धर्म का सूक्ष्म परिचय दिया जा चुका है। अब हम अवैदिक धर्म का परिचय देते हैं— इसमें भी साधारणतया दो विभाग किये जा सकते हैं—एक शाखा ऐसी है जिसमें वेदों को नाम से आदर भले ही न दिया गया हो पर व्यक्तिगत आचार पर बड़ा जोर दिया गया है।

व्यवहार में यहां भी वे ही बातें लिखी हैं जो वैदिक धर्म में हैं। ऐसे धर्म जैन और बौद्ध हैं। दूसरे कुछ लोग ऐसे भी हुए हैं जो न तो वेदादि की मान्यता ही करते थे और न अपने व्यक्तिगत आचार की शुद्धि पर ही ध्यान देते थे। "खाओ पीओ ऐश उड़ाओ" उनका सिद्धांत था। यद्यपि ऐसे लोगों ने भी युक्ति प्रत्युक्तियों से अपने निरंकुश आचरण को मानवोपयोगी सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया; परन्तु भारतीय सभ्यता में आचार-शुद्धि का बहुत ऊंचा स्थान था—इसलिए ऐसे धार्मिक विचार जम न सके वे बरसात के कीड़ों की तरह पैदा हुए और नष्ट हो गए। चार्वाक भी उनमें से एक हैं।

दूसरी ओर इस शाखा में जैन और बौद्ध धर्म हैं। इनके परिचय से पता लगेगा कि इसमें आचार-शुद्धि का—मानवीय अन्य ऐसे गुणों की अपेक्षा जो समाज में शांति फैलाते हैं—कितना आदर और व्यवहार है। जैन धर्म में आधारभूत सिद्धांत है कि व्यक्ति की आत्मा दुष्कर्मों से मिलकर दूषित हो जाती है—इसलिए ऐसे उपाय करने चाहिएं कि जिनसे दुष्कर्म होने ही न पावे। फिर मुक्ति मिल जावेगी। अब यह तो सम्भव हो नहीं सकता कि व्यक्ति बिना काम किये जीवित रह सके। यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। अतः पहले दुष्कर्मों को रोकना चाहिए। इसके लिए दो प्रकार की व्यवस्था की गई। एक तो गृहस्थियों के लिए, दूसरी विरक्तों के लिए। चूंकि गृहस्थी का जीवन सांसारिक अधिक है, इसलिए पांच नियम उसके लिए बनाये गए जिससे वह दुष्कर्मों को अधिक-से-अधिक प्रयत्न से छोड़ सके। वे पांच नियम ये हैं(१)अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी न करना) (४) ब्रह्मचर्य और(५) अपरिग्रह (जीवनोपयोगी सामग्री कम-से-कम अपने पास रखना) इनमें से एक-एक वस्तु आदर्श मात्र ही नहीं रखी, प्रत्युत इसका जीवन में आचरण किया गया। अतः स्वभावतः सब प्रकार से एक-एक नियम का विशद वर्णन किया गया कि इनका पालन कहां तक हो सकता है। उदाहरण के लिए अहिंसा को ले लें। इसके पालन में अनेकों कठिनाइयां आ सकती हैं।

इसलिए हिंसा का स्वरूप और उसकी मर्यादा का निश्चय कर दिया गया। हिंसा शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक-तीन प्रकार की होती है। मन से भी दूसरे का बुरा सोचना हिंसा है। पर गृहस्थी इसका इतना पालन नहीं कर सकता। इसलिए उसके फिर चार भेद किए। आनुषंगिक हिंसा, जो किसी दूसरे काम को करते समय हो जावे। जैसे—आटा पीसते, मकान बनाते, भोजन पकाते समय भी हिंसा होती है। दूसरी व्यावसायिक हिंसा, जो अपनी आजीविका का कार्य करते हुए हो जावे—जैसे किसान खेत जोतते समय अनेक जीवों की हिंसा कर बैठता है। तीसरी आत्म-रक्षा सम्बन्धी, चोर यदि हम पर आक्रमण करे तो उससे रक्षा करते समय उसकी हिंसा हो सकती है। चौथी इरादे से की गई हिंसा, जो हिंसा करने के तात्पर्य से की जावे। इस चौथी हिंसा का निषेध गृहस्थियों के लिए किया है, शेष का विरक्तों के लिए। इस प्रकार इन पांचों नियमों के पालन में गृहस्थियों को कुछ कन्सेशन दिये गए। इसीलिए गृहस्थियों के नियम, "अणुव्रत" कहलाए। उसे न स्वयं झूठ बोलना चाहिए और न दूसरों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करे। दूसरों की वस्तु को अपनाना, चाहे वह बलपूर्वक हो या धोखेबाजी से हो, चोरी है। उसे छोड़ना चाहिए— गृहस्थी को अपनी स्त्री से ही सन्तोष करना चाहिए और वह भी केवल ऋतु-काल में एक बार गृहस्थ-धर्म करे। उसे अपने पास कम-से-कम वस्तु-रखनी चाहिए। यदि वह अधिक धन उपार्जित करता है तो उसे दान में दे दे। यह आर्थिक समता पैदा करने का बड़ा उत्तम मार्ग है। इस तरह हमने देखा कि जैन धर्म में ये पांचों "अणुव्रत" ऐसे हैं, जिनके पालन से समाज का जीवन बड़ा सुखमय हो जाता है।

इन अणु-व्रतों के बाद जो व्यक्ति विरक्त बनना चाहे उसके लिए तीन व्रत "गुण व्रत" और रखे हैं। (१) वह अपने चलने के लिए सीमा निर्धारित कर ले कि इतनी दूर ही मैं चलूंगा अधिक नहीं (२) अपने चलने-फिरने का भी समय निर्धारित कर ले। (३) जीवन के कुछ समय तक ही वह जीविकोर्जन का नियम बना ले इससे आगे नहीं।

इन तीनों नियमों का पालन करने के बाद वह विरक्त होने का अधिकारी बनेगा, फिर चार नियम और पालन करने चाहिएं (१) एकान्त में आत्मा तथा जीवन की अस्थिरता का चिन्तन (२) अपनी वस्तुओं को छोड़ने का प्रयत्न करे। (३) अपने भोजन की मात्रा और गुण (सादगी) का निश्चय कर ले। उसे ही खावे, अधिक या उससे भिन्न नहीं। (४) अपनें भोजन में से अतिथि को भी दे दे।

इस प्रकार सब मिलाकर बारह वृत हुए, इनका पालन करने से मनुष्य विरक्त बनने का अधिकारीं बनेगा। विरक्त होकर इन्हीं का पालन अधिक सख्ती से करे। लेश-मात्र भी हिंसा न होने दे। नंगा रहे या थोड़े वस्त्र पहने। मुंह पर कपड़ा बाँधे रखे, ताकि स्वांस से जीव-हिंसा न हो आदि-आदि। जो अणु-वृत, हल्के नियम गृहस्थियों के लिए थे वे ही विरक्त के लिए "महा-वृत" हो जाते हैं। धीरे-धीरे बुरे कर्म होने बन्द हो जायंगे और पहले कर्मों का भी कठिन वृतों से क्षय हो जावेगा। अन्त में आत्मा शुद्ध हो जावेगा और प्राणी मुक्त होगा।

इसी से मिलते-जुलते बौद्ध धर्म के उपदेश हैं। उनमें अहिंसा को व्यवहारोपयोगी अधिक बनाया गया है, उनमें तपस्या पर अधिक बल है। संसार में इतने भाग्यशाली महात्मा बुद्ध ही पैदा हुए कि उनके धार्मिक आदर्श राजनीति, साधारण व्यक्तिगत व्यवहार, तथा वैदेशिक सम्पर्क में भी कार्यान्वित हुए। उन्होंने त्याग का जो अपूर्व उपदेश किया, उसे अपने जीवन में ढालकर भी बताया। महात्मा बुद्ध के जीवन-चरित से बौद्ध धर्म को बड़ी सहायता मिली। वास्तव में इस धर्म का मूर्त स्वरूप ही बुद्ध-जीवन है। उन्होंने जो किया और जो कहा वही धर्म बन गया। धार्मिक सिद्धांतों की दृष्टि से जैन धर्म ने बहुत-सी बातें सीमा से आगे-की रखीं, बुद्ध धर्म में ऐसा नहीं। वैसे साधारणतया दोनों धर्म मिलते-जुलते हैं। हमारे देश का गौरव बुद्ध धर्म से बहुत बढ़ा। हिन्दू सभ्यता के मस्तक पर बुद्ध धर्म हीरों का ताज है। विदेशों में प्रचार करने के लिए स्वयं भारतीय बौद्ध जाते रहे। आसपास के प्रायः सभी पूर्वी देशों

राजकुमार सिद्धार्थ
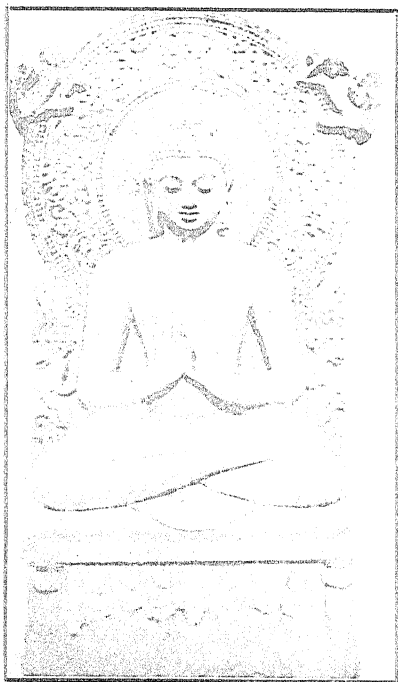
भगवान बुद्ध
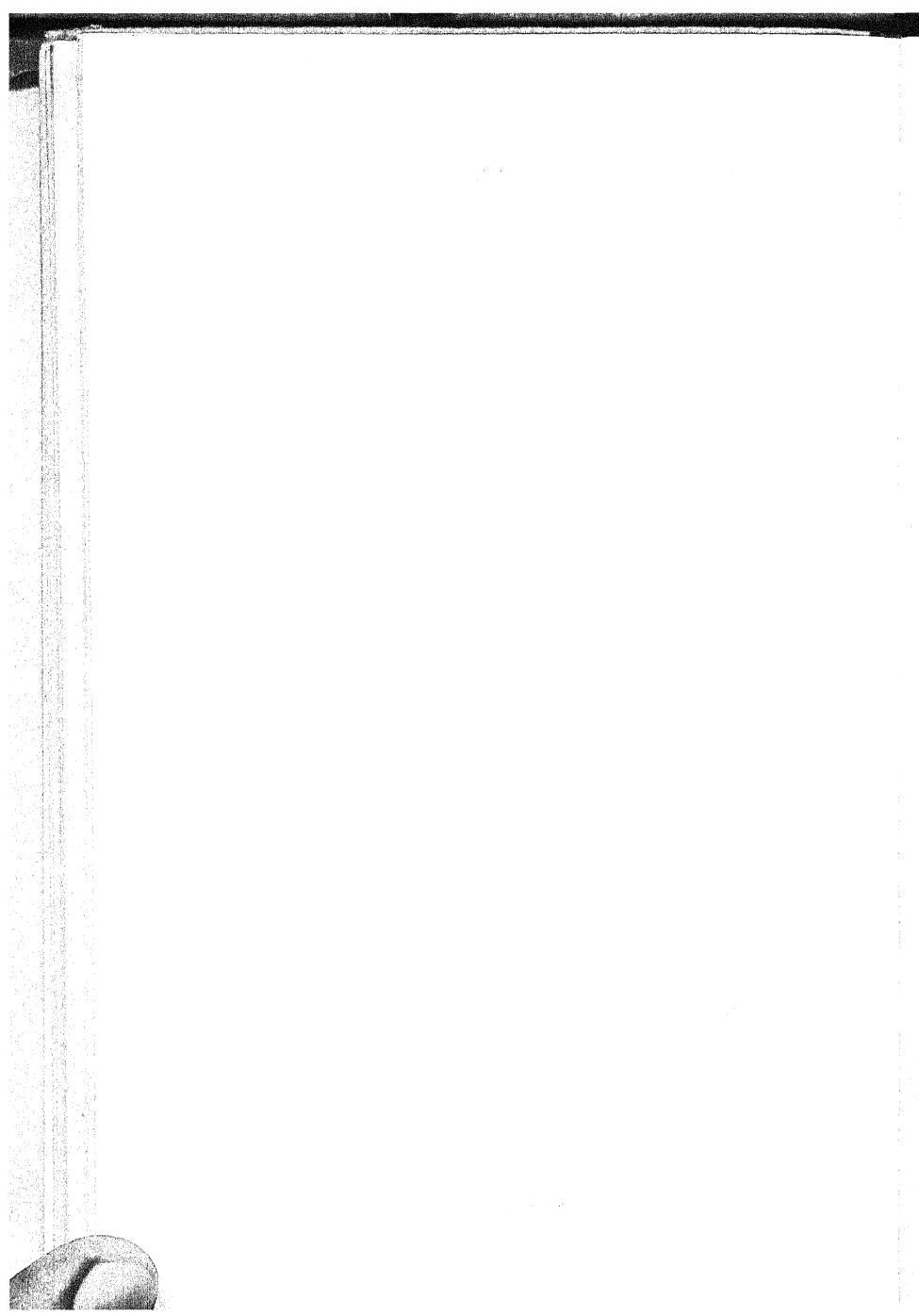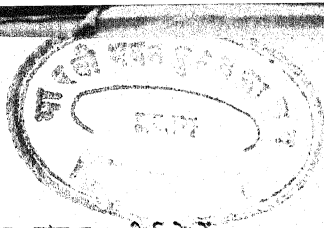
को इसकी दीक्षा मिली, इसके कारण बहुत दिन बाद तक भी विदेशों से लोग यहां धार्मिक शिक्षा लेने के लिए आते रहे।

यहां यह विशेष ध्यान देने की बात है कि वैदिक धर्म की छाया में अवैदिक धर्म बहुत फीके पड़ गये। जैन धर्म बहुत पुराना है—इसके नियम और तत्व-ज्ञान के सिद्धांत साधारण नहीं उसी। प्रकार बौद्ध धर्म का तप और त्याग मनुष्य को आश्चर्य में डालने वाली चीज है। एक समय तो सारा भारत और आसपास के पड़ोसी देश प्रायः बौद्ध हो चुके थे। फिर भी ब्राह्मण धर्म इन सब से ऊंचा उठ गया। इसका एक मात्र-कारण यही था कि प्रारम्भ से लेकर आज तक ब्राह्मण धर्म में यह विशेषता रही है कि वह दूसरों के विचार, सिद्धांत और आचार-गुणों को अपने अन्दर समेटता रहा है। उन्हें अपना रूप देकर हजम करता रहा है। इस वैदिक धर्म की विलक्षणता ने न केवल इसे जीवित रखा, बल्कि इसको प्रत्येक परिस्थिति में बढ़ाया, यह है भी उपयोगी। मान-वीय सामाजिक गुणों का आविर्भाव एक ही समय नहीं हो सकता, समय का पहिया घूमता है और नवीन-नवीन परिस्थितियां पैदा करता है। उन परिस्थितियों के अनुसार नए-नए सिद्धान्त, नए-नए आचार और मानव-प्रकृति के गुण पैदा होते रहते हैं। इसी दशा में मानव का हृदय कट्टरता से संकीर्ण बन उन गुणों के प्रति विमुख न हो। उनकेलिए हमारे समाज का द्वार खुला रहे। इन्हें स्वीकार कर लिया जावे। वे घुल-मिलकर फिर तद्रूप बन जाते हैं। यह बात वैदिक धर्म में रही है, इसी से इसकी विजय हुई।

पांचवां भाग

हमारी सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास

वैसे तो हमारी सभ्यता के इतिहास के सम्बन्ध में अनकों पुस्तकें लिखी जा सकती हैं और लिखी भी जा रही हैं; परन्तु यहां इतना अवकाश नहीं कि उसका विशद वर्णन किया जावे। सूक्ष्मतया हम तो यह कह सकते हैं कि हमारी सभ्यता का उद्भव सोलह आने इसी भूमि में हुआ और इसका प्रारम्भिक स्वरूप वेदों में है। वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय समाज पूर्णत: सभ्य था, उसमें उच्चकोटि का साहित्य बनाने की क्षमता थी। जीवन की साधारण खान-पान, वस्त्रादि की चिन्ताओं से आगे जन्म-मरण, इहलोक-परलोक, के विचार होते थे। मानवोपयोगी धार्मिक सिद्धान्त स्थिर कर दिये गए थे। व्यापार, राजनीति, समाज-संगठन जैसे सभ्य समाजों में होते हैं—उस समय परिस्थिति के अनुकूल थे। इससे आगे ब्राह्मण-काल आता है। इसमें प्रायः वैदिककाल की बातें ही परिवर्धित और परिमार्जित हुईं। यज्ञों पर विशेष बल दिया गया। अपने सिद्धान्तों को, चाहे वे सामाजिक हों या राजनीतिक, धार्मिक-युक्तियों से पुष्ट किया गया। वैदिक सिद्धान्तों का विकसित रूप ब्राह्मणों में है।

इसके बाद सूत्र-काल आया। समाज में अनेक परिवर्तन हुए। सामाजिक बन्धन दृढ़ हुए। वर्णाश्रम-व्यवस्था कसी गई। भाषा भी काफी बदल चुकी थी और साहित्य की धारा भी बदल गई। वेदानुयायियों की शाखा-

प्रशाखाएँ फूट चलीं। अपनी अपनी शाखा का उपयोगी धार्मिक साहित्य पृथक्-पृथक् था। लगभग इसी समय पुराणों की रचना हुई। वैसे तो पुराण बहुत काल तक चलते रहे, पर प्रारम्भ का समय यही है। यह हिन्दू सभ्यता का मध्याह्न था। प्रत्येक बात में उन्नति थी; पर एक विशेषता पैदा हो गई। वर्ण-व्यवस्था से ऊंचनीच का भाव पैदा हो गया। ऊंचे वर्ण के लोग नीचे वर्ण के लोगों को तुच्छ समझने लगे। उन्हें मुक्ति का अधिकार न रहा। वे सत्कर्म भी नहीं कर सकते थे। अपने गुणों का विकास करने पर राजकीय पाबन्दियाँ उन पर लगाई गईं। परिणामतः ये लोग असन्तुष्ट हुए। उसी असन्तोष के फलस्वरूप बौद्धधर्म पैदा हो गया। अब से हमारी सभ्यता के संघर्ष का युग प्रारम्भ होता है। महात्मा बुद्ध ने इस वैदिक धर्म की कमी से लाभ उठाया। जन साधारण की भाषा में अपने धर्मोपदेश दिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भेद-भाव अपने सिद्धान्तों में न रहने दिया। सबको मानवता के एक स्तर पर खड़ा कर दिया। स्वयं बड़ा त्याग और तपस्या की। वैदिक धर्म में यज्ञों के नाम पर जो अन्ध-विश्वास-पूर्ण हिंसा चल पड़ी थी। उसके विपक्ष में आवाज उठाई। जीवन को कृत्रिमता के गड्ढे से खींचकर स्वाभाविकता के हरे-भरे मैदान में लाकर खड़ा कर दिया "सर्वभूतहित" का उपदेश दिया। परिणामतः देश के बड़े-बड़ राजे-महाराजे इधर खिचे। वे इस धर्म में दीक्षित हुए। उनके बौद्ध बन जाने से उनकी प्रजा भी उनकी अनुयायी बन गई। उस समय भारतीय समाज में अपूर्व उत्साह था। विदेशों से सम्पर्क खूब बढ़ा। सारा देश एक साम्राज्य बन गया। शान्ति का राज्य हो गया। कला, विज्ञान, परस्पर सहानुभूति की चरम सीमा तक पहुंच गईं। दो शब्दों में मानवता जितनी उस समय बढ़ी उतनी आज तक नहीं बढ़ पाई। अशोक जैसे त्यागी, तपस्वी राजाओं ने इसमें चार चांद लगा दिये।

पर समय का चक्र फिर बदला। बौद्ध सभ्यता में दोष पैदा होने लगे। उसका बाह्य रूप तो अच्छा रहा पर व्यवहार में उसका पालन बन्द हो गया। क्योंकि इसमें त्याग और तपस्या बहुत अपेक्षित थी। फिर

वैदिक धर्म ने करवट ली। गुप्त साम्राज्य का प्रभुत्व बढ़ गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसे विक्रमादित्य कहा जाता है, बड़ा उत्साही, वीर, पराक्रमी राजा था। सारे भारतवर्ष को उसने पराक्रम से अपने अधीन किया। जो साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था उसे फिर एकता के सूत्र में बाँधा। अशोक के बाद अब ही भारत साम्राज्य बना था। यह वैदिक धर्म का अनुयायी था, समस्त भारत में दिग्विजय कर इसने अश्व-मेध यज्ञ किया। सारे देश के राजा इसमें भाग लेने आए। ब्राह्मणों को सोने की मुहरें व अशर्फियाँ बाटी गईं। इस समय फिर वैदिक-सभ्यता, या समझिये हिन्दू सभ्यता, का सूर्य ठीक मध्याह्न में था। बौद्ध सभ्यता के गुण वैदिक धर्म ने अपना लिये, उनके प्रति उदारता दिखाई, द्वेष नहीं। साहित्य का अपूर्व सृजन हुआ। विक्रमादित्य की सभा में कालिदासादि नवरत्न रहते थे जो हिन्दू साहित्य के भी नवरत्न बने। विज्ञान-कला, राजनीति, समाज-नीति प्रत्येक चीज बढ़ी और बहुत बढ़ी। विदेशियों के आक्रमणों का करारा उत्तर दिया जाता था। भूखे भेड़िये के समान भारतीय सैनिक विदेशी सेना पर टूट पड़ते थे और उन्हें भगा देते थे। बाद में गुप्त साम्राज्य कुछ दुर्बल हाथों में आ पड़ा। इन्द्रियारामता, आलस्य व अनुत्साह नें सम्राटों को अपना शिकार बना लिया, और उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। स्थान-स्थान पर राजा बन बैठे,इसके बाद भी यशोधर्मन् ने टूटे धागों को जोड़ा और साम्राज्य बनाया, पर वह समस्त भारत में न व्याप सका और रहा भी थोड़े ही दिन-शक व हूणोंके बल बढ़ते गए, परिणामत: राजनीतिक सत्ता दुर्बल होगई। जब कमर ही टूट जावे तो प्राणी खड़ा कैसे हो। साहित्य-कला, विज्ञान आचार आदि राजनीतिक सत्ता पर ही अवलम्बित होते हैं। वे भी छिन्न-भिन्न हो गए। हर्षवर्धन तक हमारी तूती बोली। इसी समय जगदगुरु शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त से बौद्धों के रहे - सहे प्रभाव को खण्डित किया, धर्म तथा तत्त्व-विद्या के इतिहास में आचार्य शंकर का स्थान भी बहुत ऊंचा है। फिर हमारी शक्ति क्रमश: क्षीण होती गई, मुसलमानों के

आक्रमणों से वह और भी क्षीण होगई। इस समय से पहले भारतीय धार्मिक विश्वासों को आक्रान्ता लाग भी ऊंचा समझते थे और वे इसा में मिल जाते थे। पर मुसलमान लोग इससे भिन्न प्रमाणित हुए, कुछ ने तो हमारी सभ्यता का कट्टरता से विरोध किया, कुछ लोग अपने धर्म से अडिग बनें रहे। फिर भी इसके राज्य-कालमें हिन्दू-सभ्यता पर बड़े आक्रमण हुए। गौरी-औरङ्गजेब आदि ने तो बलपूर्वक इसे दबाने का प्रयत्न किया, इसके विपरीत अकबर, दारा आदि इसके गुणों को पहचान भी गए थे। वे इसके शिष्य बन चुके थे और भी बहुत से लेखक, प्रचारक इस धर्म की दीक्षा में आए, पर हिन्दू-सभ्यता साधारणतया कष्ट में रही। अपना परिवर्धन तो दूर रहा संरक्षण के लाले पड़ गए। एक गुण इस समय हमारी सभ्यता में आया, जिससे हिन्दुत्व जाग गया। गुरु नानक, समर्थगुरु रामदास, वीर शिवाजी, प्रताप, बन्दावैरागी जैसी विभूतियाँ हिन्दू जाति में पैदा होगईं। उन्होंने बड़े बलिदान किये। गुरु गोविन्दसिंह के लड़कों के बलिदान ने समस्त भारत के हिन्दुओं के अभिमान को जगा दिया, इसी के फलस्वरूप हिन्दुत्व का संरक्षण होगया। शनैः-शनैः मुसलमानों ने कुछ हिन्दुओं के आचार-विचार अपनाए। सूफीमत उसी का मूर्तरूप है। कुछ हिन्दुओं के विचार, वेष-भूषा, रहन-सहन पर मुस्लिम सभ्यता का असर पड़ा। दोनों मिलकर एक हो गए। भाई-भाई के समान रहने लगे। द्वेष न रहा; प्रत्युत निर्वाह का भावना पैदा हो गई।

मुसलमानों का प्रभुता भी न रही। विलासिता तथा आलस्य के शिकार ये भी बने। समय ने फिर दूसरी करवट बदली; राजनीतिक सत्ता अंगरेजों के हाथ में चली गई। अंगरेजों ने भारतीय इतिहास से फायदा उठाया। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के हृदयों को पहले ही जान लिया था। वे जानते थे कि बल-पूर्वक हम अपनी सभ्यता की स्थापना यहां नहीं कर-सकेंगे। इसलिए चालाकी से उन्होंने अपने धर्म, आचार, वेष तथा आदर्शों का प्रचार किया। वैसे भी विजित जातियां विजेताओं की नकल करती हैं। दूसरे अब का समय प्राचीन समय से बड़ा भिन्न है।

विज्ञान के बल से एक देश दूसरे देश के अति निकट हो गया है। सभ्यताओं का इसी कारण सम्मिश्रण होगया। इस समय का प्रधान जीवन-लक्ष्य राजनीति है; धर्म, आचार, वेष, आदि नहीं। कला, साहित्य, विज्ञान व आचार आदि सबमें राजनीति का प्रभाव है। भारतीय सभ्यता भी बहुत कुछ इसी प्रभाव में है। राष्ट्रीयता के उदय होने के साथ कुछ भारतीयता भी उठी है। पर अब की भारतीयता के अर्थ हिन्दू, मूसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि सभी की सभ्यता है, किसी एक जाति की नहीं। धार्मिक कटुता तथा जातिगत भेद-भाव भी मिटते जारहे हैं। नीच वर्गों के उत्थान के लिए महात्मा गांधी, महात्मा बुद्ध बनकर ही आगए हैं। इस समय सारा राष्ट्र जाग्रत है, चेतन है, अपनी खोई सत्ता के लिए मर-मिटनें को तैयार है। महात्माजी ने अहिंसा के सिद्धान्त को फिर ऊंचा किया है। यदि यह इस देश में भी कार्यान्वित होगया तो मानना पड़ेगा कि हमारा देश सभ्यता की दृष्टि से फिर संसार का गुरू बनेगा। इस समय प्रतिस्पर्धा, द्वेष, अभिमान तथा सत्ता की मिथ्याभिलाषा से जातियां पागल हैं। इनके लिए अहिंसा का मार्ग अमृत होगा।

सब मिलाकर इस समय भारतीय सभ्यता फिर उन्नति को ओर बढ़ी जारही है।

छठा भाग

रहन-सहन

वैदिक काल

वैदिक काल से लेकर प्राचीन भारतीयों का साधारण जीवन विस्तृत रूप में बताने के लिए यहां स्थान नहीं है। सूक्ष्मतया ही बताया जाता है। वैदिक,काल का रहन-सहन सादा एवं सभ्य था। उन दिनों जीवन-निर्वाह के प्रधानतया दो मार्ग थे, पशु-पालन और कार्य अथवा व्यापार। यात्रा के लिए, दौड़ के लिए और लड़ाई के लिए घोड़े थे। बड़े आदमियों के पास सवारी के रथ होते थे जो घोड़ों से खींचे जाते थे। रखवाली और शिकार के लिए कुत्ते होते थे—शिकार से अमोद-प्रमोद के अतिरिक्त भोजन का भी काम चलता था। सबसे उपयोगी पशु गाय और बैल ही थे। गायों का दूध तथा मक्खन आदि निकाला जाता था। बैल खेती के काम में आते थे। सिंचाई के लिए कुए-तालाब, और कुल्या अर्थात् एक तरह की नहरें थीं। मकानों में लकड़ी का प्रयोग बहुतायत से होता था, जेवर पहनने की चाल बहुत थी। अमीर आदमी सोने जोर जवाहिरात,के तरह-तरह के जेवर पहनते थे। वे लोग आस-पास के ही नहीं दूर-दूर के देशों से भी व्यापार करते थे। रोटी-बेटीके सम्बन्ध में विशेषप्रतिबन्ध न होने पर भी, जो आगे चलकर हो गया,धार्मिक जीवन में यज्ञों की अधिकता थी। स्त्रियों का पद ऊंचा था। स्त्रियां वेद-मन्त्रों की दष्टा हैं। विष्पला नाम की एक

महिला की भुजा युद्ध में कट गई थी। अर्थात् वे युद्धादि में भी भाग लेती थीं, विवाद की रस्में अधिकतर अब की रस्मों से मिलती-जुलती थीं। बेटे वाले बरात लेकर जाते थे। रथादि पर लड़की को चढ़ाकर गाजे-बाजे के साथ ले आते थे। एक पुरुष अनेक विवाह कर सकता था। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा थी, घर में प्रधान का, चाहे वह पितामह हो या पिता हो, या बड़ा भाई हो, बड़ा आदर होता था। पुत्रों की लालसा बहुत थी। गोद लेने की प्रथा भी थी। दासता की प्रथा यहां उतनी प्रचलित नहीं थी जितनी कि रोम या यूनान में थी। यह प्रथा कम और सहानुभूतिपूर्ण थी। अतिथि-सत्कार समाज में बड़ा प्रचलित था। शिक्षा का प्रबन्ध पाठशालाओं में होता था। नैतिक आदर्श बहुत ऊंचा था। उसके अनुसार सबको चाहिए कि हेल-मेल से रहें और ऋत अर्थात् सत्य या धर्म को अपने जीवन का अवलम्बन समझें। आमोद-प्रमोद खूब होता था, नाच-गाने का शौक बहुत था। आगे चलकर उसी काल में उद्योग-धन्धे बढ़ते दिखाई देते हैं। यजुर्वेद के पुरुष-मेध सूक्तों में किसान, चरवाहे, गडरिये मछुए, रथ वाले, नाई, धोबी, जुलाहे, लकड़िहारे, रंगरेज, आदि का उल्लेख है। तत्त्व-चिन्तन, में भी लोग लगे थे। इससे आगे वैदिक-काल के अवसान में तो बहुत बढ़े-चढ़े रहन-सहन का पता लगता है। पढ़ने-पढ़ाने के ब्रह्मचर्याश्रम थे, छान्दोग्य उपनिषद् में २० के लगभग पाठ्य विषयों का वर्णन है। पढ़ाई में ज्ञान से अधिक चरित्र पर बल दिया जाता था।

मौर्य-काल

मौर्य-काल के सामाजिक रहन-सहन का अच्छी प्रकार इतिहास मिलता है। मैगास्थनीज़ ने शायद राज्य की दृष्टि से सात वर्ग गिनाए हैं:- (१) तत्त्व-ज्ञानी, जिनकी संख्या बहुत न थी, पर प्रभाव बड़ा था। ये लोग किसी के नौकर नहीं थे—यज्ञ कराया करते थे (२) किसान, जो गांवों में रहते थे, लड़ाई या सरकारी नौकरी से अलग रहते थे। (३) चरवाहे और गडरिये, (४) कारीगर, जो खेती तथा लड़ाई आदि के

महाराज कनिष्क अग्नि में
आहुति दे रहे हैं।
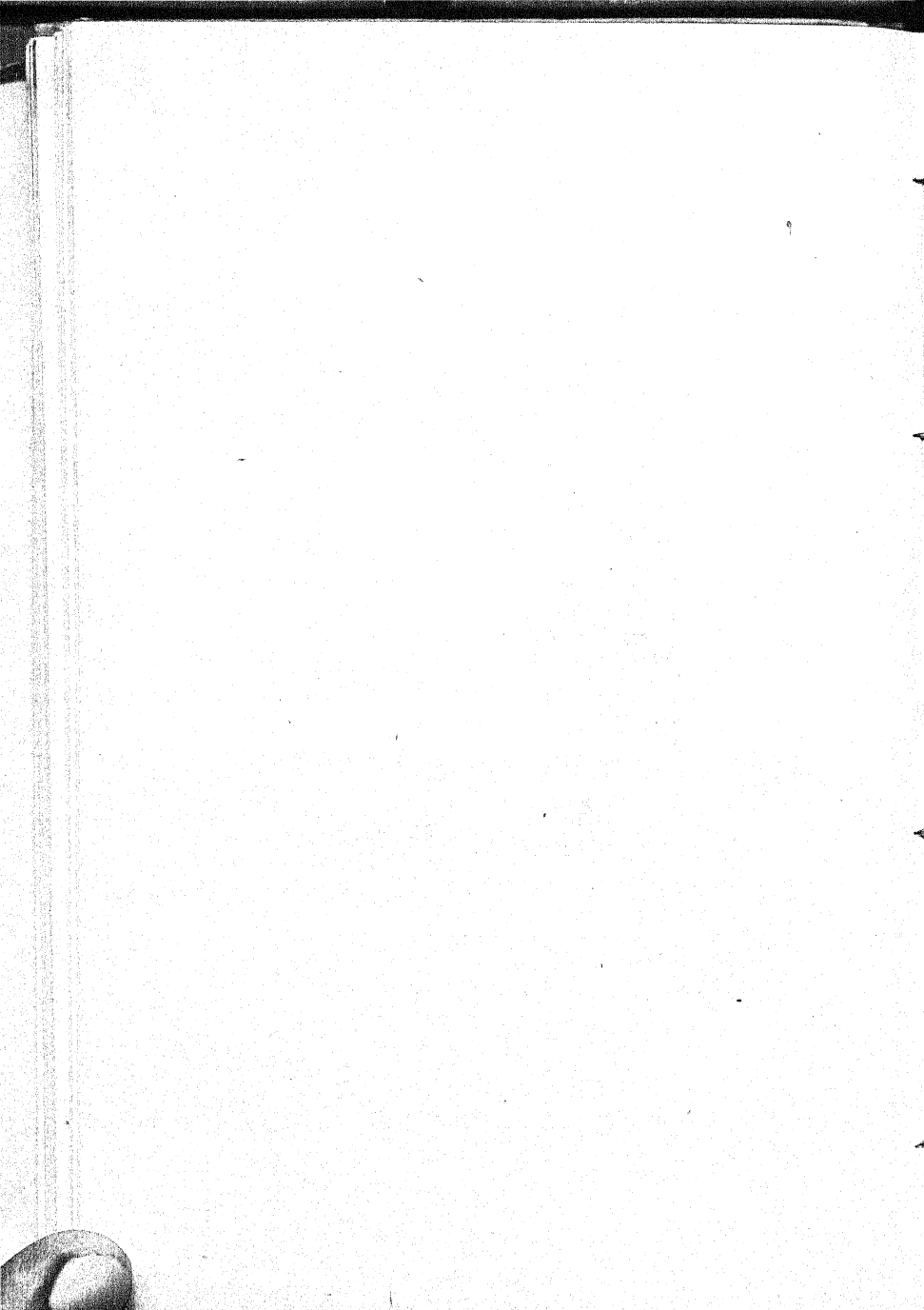
औजार बनाते थे। इनसे कर नहीं लिया जाता था, (५) सिपाही, जो लड़ाई में भी काम करते थे; शान्ति के समय ठाली बैठे रहते थे। (६) अध्यक्ष, जो हर एक बात की निगरानी करते थे। (७)मंत्री और अधिकारी, जो संख्या में सबसे कम थे, पर अपने बुद्धि-बल और आचार के कारण सबसे अधिक आदर के पात्र थे। अशोक के शिलालेखों पर दिये गए निषेधों से पता चलता है कि समाज में आमोद-प्रमोद बहुत होता था। अनावश्यक रूढ़ियां बड़ी फैल गई थीं। पर अशोक ने कानूनन उनको रोक दिया था। मौर्य साम्राज्य तथा गुप्त साम्राज्य के बीच में वैदिक धर्म फिर उन्नति पकड़ गया।

सूत्र-काल

इसमें स्मृतियाँ, जो भारतीय आचार-शास्त्र हैं, अधिकतर बनीं। चूंकि बौद्धों के अभ्युदय-काल में आचार पृथक् था, अतः उसमें परिवर्तन किये गए। इसलिए रहन-सहन के तरीके कुछ बदल गए। परन्तु देश की समृद्धिशालिता बढ़ती ही गई। नागरिक जीवन का वर्णन करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि मकान के दो हिस्से होने चाहिएं—बाहर और भीतर। अलग-अलग कमरे और दफ्तर और एक उपवन हर मकान में होना चाहिए। पलंग, दरी, गद्दी, चन्दन, माला, गाना, बजाना, आदि सब घरों में होना चाहिए। साहित्य-चर्चा, गाने बजाने, गप-शप, के लिए गोष्ठियाँ होनी चाहिएं। गाने-बजाने के आमोद-प्रमोद, जिनमें वेश्यायें होती थीं, बड़े होते थे। इनकी निन्दा बड़ी होती थी। कुछ वर्गों में कन्याएं खूब शिक्षा पाती थीं, उनके कला-कौशल, वेष-भूषा, आभूषण आदि बड़े आकर्षक होते थे। गावों का रहन-सहन सादा था।

गुप्त-काल

गुप्त-साम्राज्य के स्थापित हाने पर आश्रम-व्यवस्था पर जोर दिया गया। अध्ययन-काल में ब्रह्मचर्य, बीस-पच्चीस वर्ष गहस्थ, फिर अपने घर का कारोबार बेटों पर डालकर वानप्रस्थ लेकर वनों में चले जाना, फिर

तपस्या का अभ्यास कर संसार का चित्त से भी त्याग करना[1], बड़े-बड़े घरों म यह जीवन का नियम खूब चलता था। इस प्रकार समाज का बहुत बड़ा अंग जंगलों में निवास करता था और धर्म-चर्चा, समाज-सुधार के नियम, भगवत्प्राप्ति आदि में लीन रहता था।

फाहियान लिखता है कि चाण्डालों के घर शहर के बाहर होते थे। जब वे शहर में आते थे तो वे एक लकड़ी बजाते थे ताकि कोई उनसे छू न जावे। बौद्धों के साथ घृणा का भाव नहीं था। राजा या अमीर लोग बौद्ध भिक्षुओं को अन्न तथा वस्त्र बांटते थे। स्मृतियों के अनुसार स्त्रियों का पद बहुत गिर गया था। एक स्मृति में इन्हें "जोक" लिखा है।

मध्य-काल

बाल-विवाह के नियम भी बन गये थे। कादम्बरी उपन्यास से प्रतीत होता है कि अमीर घरानों में ऐश्वर्य, भोग-विलास की सामग्री अपार होती थी। वेश्याएं दरबारों में जाती थीं। आपस में बौद्धों के शास्त्रार्थ होते थे पर सहिष्णुता बड़ी थी। नगर आम तौर से ऊंची मोटी दीवारों से घिरे रहते थे। कसाई, मछुए, नट, जल्लाद शहर के बाहर रहते थे। घरों में सफाई बड़ी रहती थी। चीनी यात्री युआन की धारणा है कि "भारतीय चाल-चलन के बड़े पक्के और ईमानदार हैं। पर बड़े जल्दबाज हैं और इरादे के कच्चे हैं। स्त्रियां दुबारा विवाह नहीं करतीं।" 'इत्सिंग' कहता है कि ब्राह्मण लोग हाथ-पैर धोकर चौकी पर बैठकर भोजन खाते थे। विद्यार्थी गुरुओं की बड़ी सेवा करते थे।

युआन-च्वांग ने उस समय बौद्ध भिक्षुओं के अलावा और बहुत तरह के संन्यासी देखे थे। कुछ मोर-पंख पहनते थे, दूसरे खोपड़ियों

---

१ शैशवेभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

रघुवंश सर्ग १

की माला पहनते थे। कुछ घास पहनते थे। वस्त्रधारियों के कपड़े का तरह के होते थे। शास्त्रार्थ में हार जाने पर बौद्ध भिक्षुओं के चेहरे लाल या सफेद मिट्टी से पोत दिये जाते थे और उन पर धूल फेंकी जाती थी।

मुस्लिम काल

इसके आगे मुसलमानों के राज्य में सामाजिक उत्साह बहुत बदल गया। नए आक्रमणों से जाति में उल्लास का स्थान निराशा ने ले लिया। अन्य धर्मों और जातियों से अपनी विलक्षण सभ्यता की रक्षा करने के लिए हिंदू समाज में जाति-पांति, व खाने-पीने के बन्धन और भी कड़े कर दिये गए। स्वतन्त्रता के समय समाज का संगठन पुरोहित तथा राजाओं के हाथों में था—अब केवल पुरोहितों के हाथ में ही रह गया था। विदेशों से सम्पर्क हट जाने पर उदारता नष्ट हो गई। मुसलमानों में पर्दे की प्रथा बहुतायत से थी उनके अनुकरण स्वरूप हिंदुओं में भी यह प्रथा बलवती हो गई। बाल-विवाह बढ़े, क्योंकि जवान लड़कियों के अपहरण की आशंका रहती थी। पहले जीवन का दृष्टिकोण अधिक आशामय था। कर्म-सिद्धान्त को लोग आदर्श समझते थे। अब निराशा छा गई। अशरणों के शरण भगवान् ही केवल सहारा रह गए। तुलसीदासजी के मुख से यह शब्द निकले:—

हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश अपयश विधि हाथ।
सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ रघुनाथ॥

हां, विदेशी सभ्यता के सम्पर्क स्वरूप कबीर, गुरु नानक, आदि महा पुरुषों ने ईश्वर की एकता का उपदेश दिया, इस समय देश में बहुत से नये धर्म तथा नई-नई मिठाइयां बनीं। वस्त्रों का रिवाज भी नया चल पड़ा। बाग बनवाने का शौक आम हो गया था। यह स्पष्ट है कि यद्यपि मध्य-काल में हिंदुओं ने अपने जीवन को नई परिस्थिति के बहुत कुछ अनुकूल बना लिया तथापि उनकी सभ्यता के पुराने सिद्धान्त पुराने रूप से कुछ परिवर्तित रूप में प्रचलित रहे। पुरानी शृंखला कभी टूटने न पाई।

सातवां भाग

भारतीय दर्शन

इतिहास में अनेक जातियों ने संसार और सभ्यता के एक-न-एक नए अंग की पूर्ति विशेष रूप से की है। प्राचीन ग्रीस ने कला तथा साहित्य आदि में सौन्दर्य का भाव प्रदान किया। रोम ने कानून तथा व्यवस्था का प्रकाश दिखाया इसी प्रकार भारतवर्ष ने दार्शनिक ज्ञान से संसार को आलोकित किया। इस क्षेत्र में भारतीय बुद्धि के सबसे बड़े चमत्कार हैं। दुनिया का कोई देश भारत से बराबरी नहीं कर सकता। यहां हिंदुओं की पैनी अन्तर्दृष्टि तथा तर्क ने जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा, मन और बुद्धि, एवं विचार और तर्क इत्यादि को जानने का प्रयत्न किया है।

भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां तर्क का बड़ा आदर है। दर्शन के प्रमेय पदार्थ (आत्मा, प्रकृति आदि) इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। उन्हें तर्क से जाना जाता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न तर्कों से भिन्न-भिन्न परिणाम निकलते हैं। फलत: मतभेद हो जाता है।

हमारे देश में दार्शनिक चर्चा कुछ इन-गिने ऊंची कोटि के विद्वानों में ही सीमित नहीं रही, किंतु यह सारी जनता के आध्यात्मिक जीवन का अंग हो गई। दर्शनों के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त विद्वानों की कुटिया से निकलकर जनता के प्रत्येक वर्ग में फैल गए। साहित्य भी इससे बड़ा

प्रभावित हुआ। इतना ही नहीं, यह दार्शनिक प्रभाव बौद्ध धर्म के साथ-साथ लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत और मंगोलिया तक पहुंचा। तत्त्व-ज्ञान की जो धाराएं देश में बह रहीं थीं वह चार्वाक, जैन, बौद्ध तथा भागवत सिद्धान्तों के अतिरिक्त इन छः भागों में विभक्त हुईं (१)न्याय (२) वैशेषिक (३) सांख्य (४) योग (५) पूर्वमीमांसा तथा (६) उत्तर-मीमांसा। इनके सिद्धान्तों की उत्पत्ति तथा विकास का ठीक-ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। बिखरे स्वरूप में तो प्रत्येक दर्शन के मूल सिद्धान्त वेदों में मिल जाते हैं। आमतौर से मौर्य साम्राज्य से पूर्व ई० पू० पांचवीं शताब्दी तक इसके साधारण सिद्धान्त स्थिर हो चुके थे। आगे शंकराचार्य, रामानुज प्रभृतियों ने विकसित किए। ये छहों दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं। पर तर्क के बल से वेद-वाक्यों का पृथक्-पृथक् अर्थ करते हैं। अब हम सूक्ष्मरूप से प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त देते हैं।

सांख्य

सांख्य दर्शन में दो मूल पदार्थ माने गए हैं। प्रकृति और पुरुष-पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़। प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। जब इन गुणों में वैषम्य होता है तो भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्राएं पैदा होजाती हैं। इन तन्मात्राओं से पांच ज्ञानेन्द्रियां-पाँच कर्मेन्द्रियां, पांच महाभूत तथा एक मन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रकृति या उससे उत्पन्न हुए तत्त्व चौबीस बनते हैं। पुरुष को मिलाकर पच्चीस बन जाते हैं। इस प्रकार तत्त्वों की संख्या करने से इसका नाम 'सांख्य' होगया। महान् का नाम ही बुद्धि है। वह जड़ है। बुद्धि से पैदा हुआ ज्ञान भी जड़ है। पुरुष चेतन है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से वह अनेक है। वह कोई काम नहीं करता. उदासीन रहता है। स्वच्छ बुद्धि पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि को चेतनता-सी मालूम पड़ती है। इधर बुद्धि के संयोग से पुरुष अपने को 'काम का

करने वाला' उसका 'फल भोगने वाला' जैसा समझ लेता है। असलियत में वह ऐसा नहीं। यह पुरुष का भ्रम हीं उसका बंधन है। वास्तव में सब काम प्रकृति करती है। उन कामों के फल सुख, दुःख, और मोह भी उसी के हैं। पुरुष को इन्हें अपना न समझकर प्रकृति का समझना चाहिए, यही पुरुष का 'विवेक' है। विवेक होने से पुरुष मुक्त होजाता है। पुरुष विकृत नहीं होता, प्रकृति होती है। इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं।

वेदान्त

जिस प्रकार सांख्य प्रकृति और पुरुष दो भिन्न तत्त्व मानता है—वेदान्त उससे भिन्न केवल एक तत्त्व मानता है, जो ब्रह्म है। वह सत् (सदा विद्यमान्), चित् (चैतन्यस्वरूप), आनन्द (सुखस्वरूप) है। उसी से जड़ चेतन जगत् उत्पन्न हुआ है। वास्तव में सारा जगत् ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जिस प्रकार समुद्र के किनारे जमा की हुई सीपियां दूर से चांदी मालूम पड़ती हैं, वास्तव में चांदी नहीं—उसी प्रकार ब्रह्म में ही जगत् का भ्रम हो जाता है। इस भ्रम का नाम अध्यास है। इसका कारण अविद्या (अज्ञान) है। हमारे शरीर में जो जीवात्मा है, वह ब्रह्म ही है; पर वह अज्ञान के कारण अपने असली रूप को भूला हुआ है। जब विद्या के द्वारा अविद्या का नाश हो जावेगा तो जीव और ब्रह्म का भेद मिट जावेगा, यही मुक्ति है। अपने असली रूप को समझ लेने पर प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म ही मालूम पड़ने लगता है; फिर मोह, शोक, आदि कुछ नहीं रहते। इस अविद्या के नाश के उपाय वे वेदों के महावाक्य हैं जिनमें जीव और ब्रह्म की एकता बताई गई है।

ये सिद्धान्त इतने ऊंचे थे कि जन-साधारण की पहुंच के बाहर हो गए। विशेषकर ब्रह्म का स्वरूप। इसलिए कुछ दार्शनिकों ने ब्रह्म को करुणा शील सगुण माना। ये लोग बौद्धायन, हेक, द्रविड़ गुहदेव, आदि थे। इनके विचारों का व्यवस्थित संकलन आचार्य रामानुज ने किया। इसलिए वह मत उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध था। इनके अनुसार ब्रह्म

सत्य है, व्यापक है, पर वह करुणामय है। वह चित् भी है, अचित् भी है। आत्माएं ब्रह्म के भाग हैं। अतएव अनश्वर हैं। आत्माओं का ब्रह्म में मिल जाने पर भी पृथक्त्व रहता है। जगत् ब्रह्म से निकला है पर बिलकुल झूठा नहीं है। इस विचार-शृंखला में ब्रह्म सगुण हो जाता है। अद्वैत की जगह विशिष्टाद्वैत आता है। चूंकि ब्रह्म करुणामय है; इसलिए उसकी भक्ति करनी चाहिए। प्रसन्न होने पर वह भक्तों को सब सुख देगा।

इस प्रकार एक ही वेदान्त की कई शाखाएं बन गईं। असल में वेदान्त-दर्शन के मूल सिद्धान्त कहीं-कहीं संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में तथा अधिकतर उपनिषदों में हैं। इनका संकलन बादरायण ने ई०पू० चौथी सदी में किया इस पर अनेक भाष्य हुए। उन भाष्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न शाखाएं बन गईं। अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं और विशिष्टाद्वैत के रामानुज।

पूर्व मीमांसा

वेद के दो भाग हैं—कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड। कर्म-काण्ड में यज्ञ-यागादिकों का विधान है और ज्ञान-काण्ड में ज्ञान का। ज्ञान-काण्ड की मीमांसा वेदान्त कहलाता है और कर्म-काण्ड की मीमांसा पूर्व मीमांसा। इसमें यज्ञों के तरीके तथा श्रुति-वाक्यों के अर्थ लगाने के नियम बताये हैं। यदि दो श्रुति-वाक्यों में आपस में विरोध हो तो किस श्रुति को ठीक समझा जावे। श्रुति-स्मृति के विरोधहोने पर स्मृति का कैसा अर्थ किया जावे। यदि स्मृतियों में कोई नियम या विधान है, और श्रुति में नहीं है तो समझना चाहिए कि उस श्रुति का लोप हो गया है—इत्यादि शब्दों के आधार पर चालू नियमों का स्पष्टीकरण इसमें बड़ा अच्छा किया गया है। वास्तव में यह कर्म का विधान ही बताती है, सूक्ष्म-तत्त्वों का विवेचन इसमें नहीं। फिर भी प्राचीन प्रथा से इसे दर्शन कहते चले आए हैं। पूर्व मीमांसा का विषय यज्ञ-कर्म-काण्ड वेदों के बराबर ही पुराना

है, पर इसकी व्यवस्था जैमिनी ने ई० पू० चौथी सदी में की थी। इसका नाम 'मीमांसा सूत्र' है। कुमारिल भट्ट, मण्डनमिश्र, तथा प्रभाकर आदि इसके प्रधान टीकाकार हें। माधव ने 'न्यायमाला-विस्तर' नामक एक बड़ा ग्रन्थ अलहदा इस पर लिखा है।

योग

वेद तथा उपनिषदों में योग का खूब जिक्र आता है। बुद्ध तथा महवीर ने भी योग-साधना की थी। जैन तथा बौद्ध-धर्म वेदों को न मानते हुए भी योग मानते हैं। इसके मूल सूत्र पतञ्जलि के हैं। विज्ञानभिक्षु आदिकों की टीकाएं हैं। इस दर्शन का सांख्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांख्य के सिद्धान्तों में ही कुछ विशेषता कर इसे पृथक् कर दिया गया है। सांख्य ईश्वर नहीं मानता, इसमें ईश्वर माना जाता है। योग का असली अर्थ है चित्तवृत्तियों से ही दुःख पैदा होना। उन्हें रोककर ईश्वराभिमुखी कर दिया जावे तो आत्मा को शान्ति मिलती है। इस चित्त की एकाग्रता के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि साधन हैं। योग साधन से अनेकों विशेष बल प्राप्त होते हैं। योगी सब कुछ देख सकता है, जान सकता है। भूख प्यास को जीत लेता है, आकाश को चढ़ सकता है। पर इसका सच्चा ऊंचा ध्येय कैवल्य या मोक्ष है।

न्याय

प्रमाणों से अर्थ को परखना न्याय कहलाता है। ई० पू० तीसरी सदी के लगभग महर्षि गौतम अक्षपाद ने इसको सूत्रों के रूप में संकलित किया। उन्होंने किसी वस्तु पर तर्क करने के लिए १६ मार्ग बताए हैं। उनमें प्रमेय भी आ जाता है। जो आत्मा, परमात्मा तथा जगत् की प्रत्येक वस्तु से अभिप्राय रखता है। प्रमाण चार हैं; प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द। इन्द्रिय का वस्तु के साथ मेल होने से जो ज्ञान होता है वह

प्रत्यक्ष है। आंखों के वृक्ष के साथ मिलने पर वृक्ष का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष वस्तु के द्वारा उससे सम्बद्ध अप्रत्यक्ष वस्तु को जानना अनुमान कहलाता है। जैसे पहाड़ में धुएं को देखकर अग्नि का ज्ञान करना। यद्यपि पहाड़ों की अग्नि आंखों से नहीं दीखती। एक वस्तु की समानता से दूसरी को पहचानना उपमान होता है, जैसे कोई आदमी गधे को न जानता हो और उसे कहा जावे कि गधा घोड़े जैसा होता है। जब वह घोड़े की समानता के सहारे गधे को पहचानें तो वह उपमान होगा। सत्यवक्ता के वचन से किसी वस्तु का ज्ञान होना शब्द-प्रमाण है। जैसे भूगोल का अध्यापक कक्षा में बतावे कि ध्रुव प्रदेश के "एस्किमो" लोग बर्फों के मकानों में रहते हैं। इनका इस प्रकार के मकानों में रहना न आंखों से देखा, न अनुमान या उपमान से जाना गया। केवल अध्यापक के वचनों से ही ज्ञान हुआ। वेद-वाक्य भी इसी प्रमाण में शामिल हैं। प्रमेय शब्द से आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, आदि का विवेचन है। ज्ञान जिसमें रहता है वह आत्मा है। चेष्टा, इन्द्रियों और अर्थ का आश्रय शरीर है। इन्द्रियां पांच हैं; नाक, कान, आंख, जीभ और त्वचा। ये क्रमशः गन्ध, शब्द, रूप, रस, और स्पर्श को पहचानती हैं। ये ही अर्थ हैं। हमारे शरीर में रहने वाला आत्मा अल्पज्ञ है। परमात्मा सर्वज्ञ है। आत्मा को अनात्म पदार्थों से पृथक् पहचानकर सत्कर्मों द्वारा परमात्मा के साथ परम साम्य प्राप्त करना मुक्ति है।

वैशेषिक

इसके प्रवर्तक आद्याचार्य महर्षि कणाद हैं। "विशेष" नाम का पृथक् तत्त्व मानने से इसका नाम वैशेषिक हुआ। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छः पदार्थ हैं; जिनमें समस्त जगत् आजाता है। पृथिवी, जल आदि नौ द्रव्य हैं। रूप, रस आदि २४ गुण हैं। कर्म पांच प्रकार के होते हैं, सामान्य का अर्थ जाति है, जो एक ही है। जिसके कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् होती है, वह विशेष है। दो वस्तुओं

के नित्य सम्बन्ध का समवाय कहते हैं। जैसे फूल में गन्ध का सम्बन्ध। इसका परमाणुवाद प्रसिद्ध है। किसी वस्तु के टुकड़े करते जाइए, जो छोटे-से-छोटा भाग है वह परमाणु है। सूर्य की किरणें जब झरोखे से होकर मकान में आतां हैं तो प्रकाश में उड़ते हुए छोटे-छोटे धूलि-कण दिखाई देते हैं। उनमें से एक का साठवां भाग परमाणु[1] कहा जाता है। जब प्राणियों के कर्मों के भोग का समय आता है तो परमेश्वर सृष्टि करता है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में चलन (Motion) उत्पन्न होता है। इस चलन से वे मिल जाते हैं। वायु के परमाणुओं के मेल से जल पैदा होता है। जल में पृथ्वी के परमाणु मिलने से पृथ्वी पैदा होती है। उसी जलनिधि में तेज के परमाणुओं के मिलने से तेज पैदा होता है। इस प्रकार समस्त सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। यही संक्षेप में इस दर्शन का परमाणुवाद है। यह दर्शन बहुत पुराना है। जैन तथा बौद्ध-ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख आता है।

यह सब मिलकर 'षड् दर्शन' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त और भी दर्शन थे जो लुप्त हो गए। उनके कुछ-कुछ सिद्धान्त साहित्य-ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। ई० पू० छठी-सातवीं शताब्दी में देश में दर्शन और धार्मिक नियमों की बड़ी हलचल रही, स्त्रियों ने भी इसमें भाग लिया।

---

१. जालान्तर गतेमानौ सूक्ष्मं यद्दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठितमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

आठवां भाग

हमारी राजनीति

वैदिक काल

हिंदू सभ्यता के प्रभात वैदिक काल से ही हमारी राजनीतिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ऐतरेय तथा तैतरेय ब्राह्मणों में लिखा है कि जब असुरों ने देवों को युद्ध में पराजित कर दिया तो सबने मिल-कर फैसला किया कि अब हमें अपना राजा बनाना चाहिए, (राजानं-करवामहे)। इस प्रस्ताव पर सब राजी हो गए अर्थात् आत्म-रक्षा और और राष्ट्र का बल विपत्ति-काल में केन्द्रित करने के लिए राजा की उत्पत्ति होती है और वह राजा प्रजा की सम्मति से चुना जाना चाहिए; जैसे कि देवों ने मिलकर इन्द्र को अपना राजा बनाया। राजत्व की उन्नति का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त आज के वैज्ञानिकों को भी स्वीकृत है। मित्र और वरुण की राजा के रूप में स्तुतियां वेदों में मिलती हैं। इससे राजा के ठाट और प्रभाव का पता लगता है। राजा वरुण और मित्र के हजार खम्भे वाले ऊंचे महल का वर्णन है। वे सुनहले कपड़े पहनते थे। राजा का कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। ऋग्वेद ४।५०।९।। में कहा गया है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षार्थी ब्राह्मण की रक्षा करता है। यजुर्वेद, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में सम्राट् शब्द का भी प्रयोग मिलता है। इससे पता चलता है

कि एक राजा के आधीन और राजा होते थे। राजा का अभिषेक तथा राजसूय-यज्ञ आदि इसी के द्योतक हैं।

वे आधीन राजा अपने घरेलू कामों में स्वतन्त्र होते थे। उन्हें बड़े-बड़े सवालों पर अपने सम्राट् की आज्ञा माननी पड़ती थी। इस प्रकार राष्ट्रीय शासन केन्द्रित भी था, सब बड़े पुरुषों का इसमें सहयोग था। राजा तथा सम्राटों की निरंकुशता भी उस समय नहीं थी। जनता की दो सभाएं होती थीं। एक 'सभा' दूसरी 'समिति'। समिति में सब भाग ले सकते थे, सभा में बड़े-बड़े विद्वान् और राजनीतिक। यह नहीं कहा जा सकता कि ये संस्थाएं चुनाव से होती थीं या किस प्रकार से। शायद जाति के बड़े-बड़े लोग राज्य या प्रजा की अनुमति से इसके सदस्य बनते थे। ये सभाएं कानून, न्याय, व्यवस्था सबके नियम बनाती थीं। राजाओं तथा सम्राटों दोनों के ही लिए ये सभाएं होती थीं। यही प्रथा बहुत दिनों तक चलती रही है। राजा वैसे मौरूसी होते थे, पर प्रजा की राय से। शासन में भी प्रजा की अनुमति थी। यह शासन-पद्धति वस्तुतः निर्दोष है। जनतंत्र के दोष भी इसमें नहीं और न एक तंत्र के। हां तो राजा, सम्राट् और समिति इन सबको मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतवर्ष में एक प्रकार का संघ-शासन था और वह भी जन-तन्त्र के रूप में। राजा का चुनाव होता था पर उसी वंश से जिसका पहले राजा रहा था। कर बहुत थोड़ा लिया जाता था। अपराधियों को कैदखानों में भी बंद किया जाता था। आगे चलकर कर आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जमीन की पैदावार में १/६ या १/१०, पशु और सुवर्ण का १/५०, फल, फूल, शहद, मांस इत्यादि का १/६० भाग राजकीय कर हो सकता है। समुद्र से आए माल पर चुंगी १/१० है। ब्रह्मचारी, मुनि, स्त्री, नाबालिग, अंधे और सेवकों से कर नहीं लेना चाहिए।

रामायण तथा महाभारत

रामायण तथा महाभारत में साम्राज्य की भावना उत्कर्ष पर है। अन्य

राजा अधीनता स्वीकार कर लेते थे और समस्त देश या देश के बड़े भाग पर प्रभुत्व एक ही का होता था। सभा या समितियां नहीं रहीं। उनके स्थान पर मन्त्रि-मण्डल राज-काज सम्भालता था। वे लोग अपने-अपने विभागों के उत्तरदायी होते थे। राजा अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ करके अपनी प्रभुता का सिक्का जमाते थे। लगभग यही पद्धति रामायण में भी है। यद्यपि प्रजा का प्रतिनिधित्व शासन में नहीं था फिर भी प्रजा की आवाज खूब सुनी जाती थी, क्योंकि प्रजानुरंजन ही राजा का प्रधान धर्म था।

मौर्य राज्य की स्थापना से पूर्व देश में गणराज्य थे। बौद्ध-ग्रन्थों में सोलह गणराज्यों के नाम आते हैं। वे अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जी, मल्ल, चेती, बंसा, कुरु, पंचाल, मत्स्य, सूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार, और कम्बोज हैं। जनता के बड़े-बड़े लोग एकत्र होकर राजनीतिक मामलों पर विचार करते थे और किसी रीति से अपना एक राजा चुन लेते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में गणराज्य ही थे।

मौर्य-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अशोक तक का समय राजनीतिक इतिहास में सुनहले अक्षरों में लिखे जाने योग्य है। इस समय तक सुव्यवस्थित व्यापक साम्राज्य था। राजा बड़े ठाट-बाट से रहता था। ग्रीक लेखक आयलियन के अनुसार मौर्य राजधानी आठ मील लम्बी थी। इसके चारों ओर लकड़ी की दीवार थी, आने-जाने के लिए ६४ दरवाजे थे। आस-पास खाई थी, जिसमें शहर की नालियाँ गिरती थीं। राजा की ओर से नहरों के द्वारा जमीन की सिंचाई का प्रबन्ध था। साम्राज्य के प्रबन्ध के लिए राजधानी में पाँच समितियां थीं। एक उद्योग-धन्धों का प्रबन्ध करती थी। दूसरी विदेशियों के निवास और उनकी जान-माल की रक्षा करती थी। तीसरी जनता की पैदाइश और मौत का लेखा रखती थी। चौथी व्यापार और बांट-माप का प्रबन्ध करती थी। पांचवीं समिति

बनाए हुए माल का देख-भाल करती थी। चोरी बहुत कम थी। झूठी गवाही देने वालों की अंगुलियां काट ली जाती थीं। सेना का प्रबन्ध छः समितियों द्वारा होता था। पटना से उत्तर-पश्चिमी सीमा तक पक्की सड़क जाती थी। जासूस काम करते थे।

अशोक

अशोक ने शासन में बड़े परिवर्तन किए। सामाजिक कुरीतियों का कानूनन रोका। देश में जगह-जगह कुएं, सड़कें, बाग तथा बावड़ियां बनवाईं। साम्राज्य कई प्रान्तों में बटा था। उज्जैनी, तक्षशिला, कलिङ्ग और सुवर्णगिरि राजकुमारों के आधीन थे। इनकी सलाह के लिए सम्राट् के महामात्य (बड़े मन्त्री) हाते थे। ये लोग ही राज-काज में उत्तरदायी थे। महामात्यों के नीचे लज्जूक कर और न्याय का काम करते थे। इन्हें सम्राट् ने निष्पक्ष होने का उपदेश दिया है। इनके नीचे युल-लेखक, बड़े, मंझले पुरुष तथा प्रतिवेदक (हलकारे) थे, जो प्रबन्ध करते थे। अशोक ने जेलखानों की हालत सुधारी। फांसी वालों की अपील की मुहलत का भी नियम बनाया। सब मिलाकर अशोक के शासन में सहानुभूतिपूर्ण अनेक सुधार हुए।

गुप्त-काल

गुप्त साम्राज्य भी मौर्य साम्राज्य के समान हमारे देश की शासन-व्यवस्था का उत्कर्ष है। चीनी यात्री फाहियान, जो उस समय यहां आया था, उस शासन के विषय में बहुत-कुछ लिख गया है। देश में शान्ति का राज्य था। किसी को प्राण-दण्ड न होता था। सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कहलाता था। सम्राट् का अधिपत्य मानने वाले बड़े राजा महासामन्त और छोटे सामन्त कहलाते थे। सामन्तों के भी अधीन राजा होते थे, वे नृपति कहलाते थे। अधीन राजा अपने घरेलू मामलों में स्वतन्त्र थे। सेना, व्यापार, काश्त, न्याय, शान्ति, युद्ध आदि

अनेकों विभाग व्यवस्थित रूप से बना दिये गए थे। इनके आफिसर भी पृथक्-पृथक् थे। साम्राज्य कई सूबों में बंटा था। जो मुक्ति कहलाते थे। मुक्ति-शासन के दफ्तरों में भी इसी प्रकार"तैन्नियुक्तिक" "उपरिक" आदि आफिसर काम करते थे। मुक्तियां भी प्रान्तों में बटी थीं। प्रान्त विषय कहलाते थे। विषयपति की सलाहकारिणी समिति होती थी, जिसमें गांवों के बड़े-बड़े आदमी होते थे। सारे साम्राज्य में दण्डपाशिक, दण्डिक, चाट, मट, आदि लोग सब बातों का पता लगाते थे। ये लोग एक प्रकार के गुप्तचर और पुलिस जैसे थे। शौल्किक आने-जाने वाले माल पर चुंगी वसूल करते थे। गौल्किक जंगल और किलों का इन्तजाम करते थे। ताम्रपत्रों से पता लगता है कि उद्रंग, उपरिकर, धान्य, हरिण्य, वात, भूत आदि कर लिये जाते थे। अपराधियों से जुर्माने और मजदूरों से बेगार ली जाती थी। करों के बदले में शासन की ओर से जान-माल की रक्षा तथा न्याय होता था।

इसके अलावा सड़कें, नहर, पुल, कुए, बाग, सराय, मन्दिर, पाठशालाएं, भी राज्य की तरफ से होती थीं। व्यवसायियों की श्रेणियाँ होती थीं। उनका बड़ा शासन होता था। कालिदास ने भी, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज-कवि था, आदर्श चक्रवर्ती राज्य का चित्र खींचा है। रघु ने अपनी दिग्विजय में राजाओं को मारा नहीं, वह सिर्फ उनसे कर लेकर चला आया।

वर्धन-साम्राज्य भी उन्हीं सिद्धान्तों पर स्थिर था जा गुप्त साम्राज्य के थे। सातवीं सदी में जमींदारी संघ-शासन प्रथा और भी कड़ी होगई थी। हर्षवर्धन के अधीन बड़े-बड़े १८ राजा थे, छोटे-छोटे तो बहुत थे। इस समय देश में राज्य की सहायता से नालन्दा जैसे विद्यापीठ चलते थे, जहां १५१० अध्यापक एवं १०,००० छात्र थे।

बाद में मुसलमानों के आने से हिन्दू-शासन प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई थी। फिर देश के कुछ भागों में वह बनी रही। शिवाजी की अष्ट-प्रधान-प्रणाली गुप्त-शासन-प्रणाली से मिलती-जुलती थी। मुसलमान

राजाओं ने हिन्दू-शासन की बहुत-सी बातों को स्वीकार किया। इन्होंने भी वैसे ही जिले बनाए और वैसे ही अधिकारी नियुक्त किये। गांवों को वैसी ही स्वतन्त्रता दी और आने-जाने वाले माल पर वैसे ही चुंगी लगाई गई।

भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही राष्ट्र की संयोजक तथा विभाजक शक्तियां बराबर काम करती रहीं हैं। संयोजक शक्ति के प्रबल होने पर देश एक साम्राज्य की एकता में बंधता रहा और विभाजक शक्तियों की प्रबलता में टुकड़े-टुकड़े होगया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने छिन्न-भिन्न भारत को एक सत्ता-सूत्र में बांधा और वह अशोक के पुत्र दशरथ तक वैसा ही रहा। फिर चन्द्रगुप्त ने बिखरे पुष्पों की माला बनाई। किंतु विदेशियों के आक्रमण से वह बिखर गई। हर्षवर्धन ने फिर एकता कायम की; आखिर वही विभाग फिर आगे आया। इसके बाद मुसलमानों ने भी देश को एक सूत्र में बांधा। इससे जाति को लाभ ही हुआ। मुसलमानों के समय में उतना भी सम्बद्ध नहीं था। आज अंगरेजों के शासन में तो बहुत जुड़ा हुआ है। पर इस जोड़ में राष्ट्र के उत्कर्ष की भावना नहीं है।

नवां भाग

हमारी सभ्यता के ध्वंसावशेष

हमारी सभ्यता का पता लगाने में जिस प्रकार साहित्य आधार बनता है उसी प्रकार प्राचीन राजाओं के शिलालेख, ताम्रलेख, स्तूप, मुद्राएं, पुराने खंडहर आदि हैं। ये चिन्ह इतिहास के जीते-जागते पन्ने हैं। वे बोलते हैं—और अपना सारा हाल अपने आप ही बता देते हैं। छोटी-से-छोटी चीज़ भी इतिहास पर बड़ा प्रभाव डालती है। अब हम इसी दृष्टि से उन कुछ भग्नावशेषों का वर्णन करेंगे जिन्होंने हमारी सभ्यता के इतिहास में बड़ा परिवर्तन किया है और उसका गौरव बढ़ाया है।

हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो

हमारी सभ्यता के प्राचीनतम स्वरूप को बताने वाले इस प्रकार के साधनों में सबसे पहले नाम हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो का आता है। हड़प्पा मिन्टगुमरी जिले (पंजाब) में एक गांव है जो कि रावी नदी के दक्षिण की ओर पुराने सूखरावे के ऊपर बसा हुआ है। मिण्टगुमरी से १६ मील पश्चिम की ओर "हड़प्पा रोड" नाम का रेलवे स्टेशन भी है। यहां से ५ मील के लगभग हड़प्पा है। यहां ३०फुट से लेकर ६० फुट तक ऊंचे थेह हैं। उन्हीं के ऊपर गांव बसा हुआ है। सन् १९२०-२१ में इसकी खुदाई की गई और उसमें उपलब्ध मुहरों, तथा अन्य

आवश्यक ऐतिहासिक वस्तुओं से हमारी सभ्यता को बड़ा लाभ हुआ है।

सन् १९२१-२२ में हड़प्पा की खुदाई के एक वर्ष बाद मोहन-जो-दड़ो नाम के स्थान पर एक कुशाणकालीन स्तूप की खुदाई हुई। यह स्थान सिन्ध में नार्थ वैस्टर्न रेलवे के ढाकरी स्टेशन (जिला लड़काना) से ८ मील दूर है। इस खुदाई में कुछ ऐसी मुहरें मिलीं, जो हड़प्पा की मुहरों से मिलती-जुलती थीं। इस कारण वह खुदाई सन् १९३१ तक जारी रही और सारी खुदाई में यही समानता पाई गई। यही नहीं, इसी प्रकार की चीजें बिलोचिस्तान के "नाल" नामक ग्राम में और रोपड़ (पंजाब) जिले के कोरला निहंग नाम के ग्राम में भी पाई गई हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि यह सभ्यता, जो इन खंडहरों से मालूम हुई है, बहुत दूर-दूर तक फैली थी। इस सभ्यता को सिन्ध नदी की सभ्यता का नाम दिया गया है।

इन दोनों स्थानों की खुदाई के बाद कई प्रकार के बरतन, मिट्टी की मुहरें, मकान, मन्दिर, तालाब, स्नानागार और शहर निकले हैं। हड़प्पा में कम-से-कम पांच शहरों का पता लगा है। एक उजड़ने पर उसकी थेह पर दूसरा बसता गया। ऊपर के दो के चिन्ह स्पष्ट नहीं। मोहन-जो-दड़ो में इसी प्रकार सात बार बसे शहरों के चिन्ह हैं। इनसे पता चलता है कि उत्तर भारत में इतने पुराने समय में ऐसे नगर थे जिनमें जीवन के सुखों का अच्छा प्रबन्ध था। मकान, नालियां, गलियां, सड़कें और बाज़ार बड़े तरीके से बने हैं। हड़प्पा से मिली मिट्टी की मुहरों तथा उनके ऊपर की तसवीरों से पता चलता है कि यहां पहले बारिश बहुत होती थी। सिन्ध नदी के पूर्व में एक और नदी बहती थी, जो अब लुप्त हो गई है। आधी जली हड्डियों से पता चलता है कि तब मछली, कछुआ, घड़ियाल, बकरी और सूअर का मांस खाते थे।

पुरुष एक धोती पहनते थे। ऊपर दुपट्टा या दुशाला ओढ़ते थे। बालों को माथे से पीछे ले जाकर चोटी बनाते थे। स्त्रियों में गहने पह-

नने की बड़ी चाल थी। सवारी के लिए अमीरों के पास गाड़ियां थीं। इनमें दो पहिए, ऊपर छत, आगे हांकने वाले का स्थान होता था। यह संसार में सबसे पुराना गाड़ी का ढांचा है। रहने के मकान बहुत अच्छे हैं। एक मकान १६८ फ़ुट लम्बा और १३६ फुट चौड़ा है। इसमें दोनों ओर समकोण कमरे और दालान हैं। बीच में हाल है। यह भूमध्य सागर के क्रीट टापू के पुराने मकानों से मिलता है। स्नानागार बहुत अच्छे बने हैं। तालाब बहुत हैं। हथियार तांबे के बनाये जाते थे। मोहन-जो-दड़ोमें बाट भी मिले हैं, जो उस समय के व्यापार का पता देते हैं।

मुहरों पर जगदम्बा की मूर्ति से पता चलता है कि उन दिनों प्रकृति या शक्ति की उपासना होती थी। एक मुद्रा पर योगाभ्यास-निरत देवता का अंक चित्रित है। इसके दोनों ओर हाथी, चीता, गैंडा और भैंसा बने हुए हैं। बहुत सम्भव है कि यह शिव के पशुपति भाव की मूर्ति हो। इससे शिवोपासना का पता चलता है।

ऐसा प्रतीत हाता है कि पश्चिमी एशिया से सिन्ध-कोठ तक एक ही सभ्यता फैली हुई थी। हड़प्पा, मोहन-जो-दड़े, बिलोचिस्तान, सुमेर (प्राचीन ईराक़) तथा इसके आसपास के खंडहरों में बड़ी समानता है। मालूम पड़ता है कि बीच में रेगिस्तान न होने से पश्चिम में एशिया तथा भारत में यातायात खूब होता था।

सौभाग्यवश ईराक़ में दो मुहरें ऐसी मिली हैं, जो हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो की मोहरों से मिलती हैं। ये मुहरें निश्चित रूप से वहां के राजा 'सारगोन' से प्राचीन हैं। सारगोन का समय ई० पू० २७५० वर्ष है। इससे यह सिद्ध होता है कि सिन्ध कोठ की सभ्यता कम-से-कम ई० पू० ३००० वर्ष का है; अर्थात् वर्तमान से ५००० वर्ष पहले की है।

तक्षशिला

रावलपिण्डी से पश्चिम में २० मील की दूरी पर सरायकाला नाम का स्टेशन है। इसके बहुत निकट तक्षशिला है। इस स्टेशन को भी

टैक्सिला (Taxila) स्टेशन कहा जाता है। यह स्थान पहाड़ों से घिरी हरियाली भूमि में बड़ा रमणीक है। वहां पर पहले एक बहुत बड़ा टीला था। सन् १९१२ में इसकी खुदाई शुरू हुई और यहां तीन नगर निकले। मालूम पड़ता है कि विदेशी आक्रमणों से तंग आकर पहला नगर छोड़ दूसरा बसाया गया। दूसरे पर भी दबाव पड़ने से तीसरा बसाया गया। इन तीन नगरों के नाम मीरमन्द, सिरकप, तथा सिरमुख हैं।

मीरमन्द

मीरमन्द सबसे पुराना है। यह मौर्य राज्य में उत्तर भारत की राजधानी रहा था। यहां की इमारतें आश्चर्य-जनक हैं। कुछ तो ज्यों-की-त्यों खड़ी हुई ऐसी मालूम पड़ती हैं कि मानो अभी बनी हों। जगह-जगह पर बुद्ध भगवान् की मूर्तियां हैं।

सिरकप

मीरमन्द से आधा मील दूर 'सिरकप' है। ई० पू० दूसरी शताब्दी म यूनानी आक्रमणों से मीरमंद नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया तो उन्होंने सिरकप को बसाया। इसके चारों ओर दीवार पर कुछ-कुछ दूरी पर २० और ३० फुट ऊंचे किले बने हैं। यह नगर मीरमन्द से छोटा परन्तु वैसे बहुत बड़ा था। इसमें एक बड़े महल के खंडहर मिले हैं। इसके अतिक्ति शहर के उत्तरीय दरवाजे की ओर इमारतों के कई ब्लौक पाये गए हैं। जो प्रायः एक से हैं। बीच की गलियों से वे अलहदा होते हैं। यही तक्षशिला विश्व-विद्यालय की इमारतें थीं। यहां पर इसी के पाथियन शासक असेज् प्रथम (५७. बी.सी.) का शिलालेख मिला है जो खरोष्ट्री लिपि में लिखा है।

यह नगर कुशल वंश की राजधानी रहा था। बाद में कनिष्क ने पेशावर को अपनी राजधानी बना लिया, इससे इसका महत्त्व घट गया।

सिरमुख

तक्षशिला का तीसरा नगर 'सिरमुख' टीले पर नहीं बल्कि मैदान में बसा हुआ है। यहां कनिष्क (ई०सन् १२०–१५०) की मुद्राएं मिली हैं। इससे पता लगता है कि स्यात् यह नगर कनिष्क ने बसाया था।

अभी यहां बहुत-सा स्थल है, जिसके खुदने पर और ऐतिहासिक सामग्री के पता चलने की आशा है।

स्तूप

भगवान् बुद्ध के असली या नकली अवशेष रखकर या उनके जीवन या इतिहास के चिन्हों को रखकर उनका स्मरण करने के लिए एक प्रकार का समाधियां बनाई जाती थीं। यही स्तूप कहलाते थे, जो बर्मा में पैगोडा तथा नैपाल में चैत्य कहे जाते हैं। तक्षशिला में कई स्तूप मिले हैं। बहुत से टूटे-फूटे और कुछ साबत। उनमें से तीन विशेष प्रसिद्ध हैं। (१) धर्मराज स्तूप (२) कुणाल स्तूप (३) बाल्हार स्तूप।

धर्मराज स्तूप

इस स्तूप का ऐतिहासिक महत्त्व बड़ा है। यह स्तूप भगवान् बुद्ध के शेषांगों (जलने से शेष बची हड्डियाँ--फूल) पर बनवाया गया है। इसमें पार्थियन शासक आसेज् का शिलालेख मिला है। जिसकी लिपि खरोष्टी और भाषा संस्कृत है। कुशाण वंश के राज्य-काल में एक विदेशी बौद्ध यात्री ने इसे लिखवाया था। वह यात्री बलख़ का निवासी था। इसके चारों ओर गान्धारशैली की अनेकों मूर्तियां खुदी हैं। कुछ मालाएं पहने हैं और कुछ बिना माला ही हैं। यह स्तूप २०० फ़ुट ऊंचा है।

कुणाल स्तूप

यह सिरमुख नगर के बाहर पहाड़ी की ओर है। यह भी लगभग १०० फ़ुट ऊंचा है। इसका सम्बन्ध महाराजा अशोक के सुपुत्र कुणाल

से है। उसकी कथा आवश्यक होने से नीचे लिखी जाती है।

महाराज अशोक ने रानी पद्मा की मृत्यु के बाद उतरती आयु में तिष्यरक्षिता से विवाह किया। वह कुमार कुणाल (पद्मा का पुत्र) की सुन्दर आंखों पर मुग्ध थी। निदान उसने अपनी कुवासना कुमार से प्रकट की। कुमार ने इसे स्वीकार न किया और तिष्यरक्षिता उससे रुष्ट रहने लगी। एक बार तक्षशिला में प्रजा के विद्रोह को दबाने के लिए अशोक ने कुमार कुणाल को भेजा, कुणाल ने वहां शांति स्थापित की और अपने सद्व्यवहार से वह प्रजाप्रिय बन गया। इधर महाराज अशोक बीमार पड़े। तिष्यरक्षिता ने बड़ी सेवा की। प्रसन्न होकर महाराज ने वर मांगने को कहा तो रानी ने सात दिन का राज्य माँग लिया और वह उसे मिल गया। राज्य प्राप्त करके पहली आज्ञा उसने दंडपति के हाथ तक्षशिला को कुणाल के नाम जारी की कि उसकी दोनों आंखें निकाल ली जावें। कुणाल के पास आज्ञा-पत्र पहुंचने पर उसने अपने आग्रह से दोनों आखें निकलवा दीं और अपनी स्त्री कांचनमाला के साथ राजधानी को चल पड़ा। राजा ने जब यह समाचार सुना तो बड़ा दु:ख माना और तिष्यरक्षिता को जिंदा ही गड़वा दिया और कुणाल के पुत्र सम्प्रति को तक्षशिला का राजा बनाया। जिस स्थान पर कुणाल ने अपनी सुन्दर आंखें निकलवाईं थीं, वहां पर यह स्तूप बनाया गया है।

बाल्हार स्तूप

ह्वेनसांग के अनुसार यह स्तूप महाराज अशोक का बनवाया हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार इसी स्थान पर भगवान् तथागत ने अपने सिर का बलिदान किया था। पर वास्तव में यह अशोक का बनवाया हुआ नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि इसमें उसके कोई चिह्न नहीं। यह तीसरी-चौथी सदी का-सा प्रतीत होता है। इसी स्थान पर एक विख्यात बौद्ध आचार्य कुमार लुब्ध ने अपने ग्रन्थ लिखे थे। इस स्थान पर सेवा करने से एक स्त्री का कुष्ठ भी ठीक हो गया था। यह स्तूप हारोनद के लगभग १००

फुट ऊंचा तक्षशिला से उत्तर की ओर है। यहां पर पहले बड़े-बड़े मेले लगते थे।

इसके अलावा अनेकों मूर्तियां मिलती हैं, जा कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। इन्हें देखकर मालूम पड़ता है कि उस समय भारतीय मूर्तिकला उन्नति के बहुत ऊंचे शिखर पर पहुंची थी।

मुद्राएं और सिक्के

तक्षशिला और उसके आसपास के स्थानों से जो सिक्के मिले हैं उनमें अधिकतर यूनानी, पार्थियन, और शक शासकों के हैं। इनमें कनिष्क, हविष्क, और वासुदेव नाम के शासकों की बहुत मुद्राएं मिली हैं। इन मुद्राओं से ऐतिहासकों को बहुत-सी सचाइयों का ज्ञान हुआ है।

बरतन और जेवर

मुद्राओं के अतिरिक्त तरह-तरह के मिट्टी और पत्थर के बरतन मिले हैं। सिरकप की खुदाई में बरतन अधिक मिले, धूप जलाने वाले बरतन सबसे छोटे और अन्न भरने के मांट सबसे बड़े हैं। कई प्लेटें, गिलास, थालियां और कुणालियां भी पाई गई हैं।

खुदाई में सोने-चांदी के जेवर भी बहुत मिले हैं, जो कीमती होने के साथ-साथ देखने में बड़े सुन्दर हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सब कुछ बड़े महत्त्व की चीजें हैं।

संघाराम

यहां पर बौद्धों की संस्कृति का बड़ा केन्द्र रहा है। इसलिए संघाराम भी बने हुए हैं। इनमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुनियां रहते थे।

विश्वविद्यालय

तक्षशिला की सबसे बड़ी विशेषता उसका विश्वविद्यालय था। जो उस समय सारे भारत में शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। देश भर से

पढ़ने के लिए यहां छात्र आते थे। अष्टाध्यायी के प्रसिद्ध लेखक पाणिनि और मौर्य साम्राज्य के निर्माता चाणक्य इस विद्यालय में आचार्य थे। राजा बिम्बसार के राजवैद्य "जीवक" इसी की विभूति थे। वैशाली के राज-मन्त्री इसी की उपज थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी यहीं पर विद्या-ध्ययन किया था।

इस विद्यालय में धनी और निर्धन सभी प्रकार के बालक पढ़ते थे। धनियों को एक हजार काषपिण (उस समय का सिक्का) देने पड़ते थे। निर्धन को दिन में गुरु-गृह में सेवा करनी पड़ती थी। सेवा करना, जिन्हें नहीं रुचता था वे शिक्षा-समाप्ति पर अपना शुल्क देनें की प्रतिज्ञा करते थे। आचार्यों और छात्रों का पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध था। वहां पर आचरण-निरीक्षण पर बड़ा बल था।

तक्षशिला विश्वविद्यालय में निम्नलिखित विद्यालय थे:—

१. **वैदिक महाविद्यालय**—वेद के अंगों की इसमें प्रधानतया शिक्षा दा जाती थी। इसमें व्याकरण प्रधान था।

२. **अष्टादश विद्या महाविद्यालय**—इसमें चारों वेदों और उसके छहों अंगों के अतिरिक्त मीमांसा, न्याय, धर्म-शास्त्र, पुराण, धनुर्वेद आदि पढ़ाये जाते थे।

३. **शिल्प-विज्ञान महाविद्यालय**—शिल्प और विज्ञान के सिद्धांतों की शिक्षा इसमें होती थी।

४. **सैनिक महाविद्यालय**—सैन्य-संचालन की कला इसमें सिखाई जाती थी। इसमें बहुत से राजकुमार शिक्षा पाते थे।

५. **ज्योतिष महाविद्यालय**—खगोल, भूगोल, नक्षत्रविद्या, गणित, हस्तरेखा आदि इसके पाठ्य विषय थे।

६. **तंत्र महाविद्यालय**—इसमें तंत्र (Magic) की शिक्षा दी जाती थी।

७. आयुर्वेद महाविद्यालय—यह विद्यालय सबसे बड़ा था। सारे देश के विद्यार्थी यहां पढ़ने के लिए आते थे। चूंकि यह विद्या बड़े उत्तर-दायित्व की है—इसलिए विद्या को पूर्ण करके ही यहां से जाने दिया जाता था। इसके पढ़े वैद्यों की बौद्ध ग्रंथों में बड़ी प्रशंसा मिलती है।

बाद में शकों और हूणों के आक्रमणों से यह स्थान नष्ट-भ्रष्ट हो गया, ईस्वी सन् ४०० में फाहियान ने इसका सूक्ष्म विवरण दिया है।

नालन्दा

यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह (राजगिरि) से ५ मील पर है। आजकल यह पटना जिला की विहार नामक तहसील के अन्तर्गत है। ईस्ट इण्डियन रेलवे की बड़ी लाइन पर वख्तियारपुर जंक-शन से एक छोटी लाइन बिहार शरीफ होकर द्वीपनगर जाती है। इसी लाइन पर विहार और राजगिरि के बीच का स्टेशन नालन्दा है। इस स्टेशन से लगभग १ कोस की दूरी पर "बड़गांव" नाम की एक छोटी-सी बस्ती है। पहले यहीं पर नालन्दा का विश्वविद्यालय था।

पहले यहां १९वीं सदी के अन्त में मामूली खुदाई हुई। बाद में सन् १९१५ में फिर शुरू हुई और कुछ चीजें मिलीं। पर अभी अनुमान है कि बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री वहां भूगर्भ में पड़ी है।

भग्नावशेष

नालन्दा में दीवारों से घिरे हुए कई आंगन थे, जो आजकल के आंगनों से भिन्न थे। दीवारें, जो अब टूटी-फूटी हैं, इतनी चौड़ी हैं कि एक साथ तीन आदमी उस पर चल सकते हैं। अनेकों आक्रमणों से इसका स्वरूप बिगड़ गया है।

एक दूसरे आंगन में महान् स्तूप मिला है। यह बहुत ऊंचा है और पहाड़ी-सा मालूम पड़ता है। इसमें अनेकों मूर्तियां हैं पर विदेशियों ने इन्हें जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। स्तूप के शिखर पर एक छोटा मन्दिर

और एक मूर्ति पाई गई है। जनरल कनिंघम का निश्चय है कि भगवान् बुद्ध यहां बीस मास तक रहे थे।

नालंदा के कुएं आजकल के कुंओं से भिन्न हैं। गोल होने के बजाय वे अठपहलू हैं।

यहां बहुत से बरतन, आभूषण, हथियार, शिलालेख, तथा मूर्तियां मिली हैं। इन सबके विषय में शिल्प-विशेषज्ञों का निर्णय है कि यहां की शिल्प-कला भारत में सबसे उत्तम है।

विश्वविद्यालय

चौथी शताब्दी का यात्री फाहियान इस विश्वविद्यालय का जिक्र अपनी पुस्तक में नहीं करता। पर सातवीं सदी का चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग लिखता है कि यह विश्वविद्यालय बुद्ध के निर्वाण के थोड़े दिन बाद ही शुक्रादित्य नामक राजा ने बनवाया था, और यह ७०० वर्षों से स्थित है। इन दोनों बातों को साथ मिलाकर यह निर्णय किया जा सकता है कि इसकी स्थापना तो पहले ही हो चुकी थी, पर देश में प्रसिद्ध हुआ था ५ वीं शताब्दी के मध्यम अन्तिम भाग में।

ह्वेनसांग ने इसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। वह इसमें दाखिल होकर पढ़ता भी रहा था। इससे उसका वर्णन विश्वसनीय है और वह खण्डहरों से मिलता भी है। उसका संक्षेप यह है—

इसमें १०,००० विद्यार्थी निवास करते थे। चारों ओर चार कोनों वाली और बड़ी-बड़ी ८ दीवारें और पर्वत-शिखर के सदृश नुकीले और ऊंचे-ऊंचे चौमञ्जले मठ थे। आकाश से बातें करते हुए इसके बुर्ज और कंगूरे ऐसे जान पड़ते थे मानों प्रातःकाल के कुहरे में विलीन होगए हों। भवन की खिड़कियां इतनी ऊंची थीं कि वहां से मेघ-राशियों की गति स्पष्ट दीख पड़ती थी। इसमें अन्दर भिन्न-भिन्न चमकीले रंगों से रँगी हुई, शिल्पकारी से सुशोभित कोठरियाँ थीं। इसकी ऊंची छतों से सूर्य और चन्द्रमा मिलते हुए प्रतीत होते थे। छायादार कुंज और

उपवन, निर्मल जल से भरे हुए ताल और उनमें खिले नील कमल, लाल-लाल कलियों से लदे कनक वृक्ष और काली-काली पत्तियों से ढके हुए आम के पेड़ों के नीचे रमणाक स्थानों को देखकर मुझे (ह्वेनसांग को) आनन्द प्राप्त होता था।

बाहरी ओसारे पर चार मंजिलें थीं जिनमें सर्प के आकार के वरगे और रंगीन ओलातियाँ थीं। चित्रित और आभूषित मोतियों के सदृश लाल-लाल खम्भे और सुसज्जित कटहरे लगे थे।

इत्सिग, जो ७ वीं शताब्दी के अन्त में आया था, लिखता है कि इसमें ८ बड़े-बड़े हाल कमरे थे और ३००० कोठरियाँ थीं। छात्रों से पढ़ाई, भोजन, निवास, आदि के लिए कुछ भी शुल्क नहीं लिया जाता था। ह्वेनसांग कहता है कि मुझे प्रतिदिन १२० जम्बीर, २० जायफल, २० खजूर, १ औंस कपूर, ऽ। बुशल महाशाली धान के चावल, मक्खन और मांस में तीन राशि तेल मिला करते थे।

इसका खर्चा उस समय के शिक्षा प्रेमी राजाओं द्वारा लगाए गए गांवों तथा दान से चलता था।

यहां की प्रवेशिका परीक्षा बड़ी कठिन थी। अध्यापकों की संख्या १००० थी। इसका शासन बड़ा संतोषजनक था। समय की पाबन्दी पर बड़ा जोर था। शीलभद्र यहां के प्रधान आचार्य थे। इनके अतिरिक्त यूनीवर्सिटी के अन्य सदस्यों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, प्रभामित्र, जिन्मित्र, ज्ञानचन्द्र शीघ्रबुद्ध आदि थे। तिब्बत के लामा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक पद्मसम्भव भी इसी के स्नातक थे। यहां का पुस्तकालय नौ-मंजिला था।

अब यहां खंडहरों के सिवाय कुछ नहीं। पर ये खण्डहर ही भारत के अतात उत्कर्ष को ऊंची आवाज से सुनाते से प्रतीत होते हैं।

सारनाथ

सारनाथ का प्राचीन नाम मृगदाव था। यह स्थान बनारस के

बहुत निकट है। बनारस छावनी या बनारस सिटी स्टेशन से बी. एन. डब्ल्यू. रेलवे की गाड़ी सारनाथ को जाती है। अलईपुर के बाद सारनाथ का स्टेशन है। इसी के पास सारनाथ गांव है। इसकी हालत अब सुधर रही है। यहां कई मकान नए हैं, जिनमें महाबोधि शिक्षालय, खैराती हस्पताल, राजा बलदेवदास बिरला द्वारा बनाई एक सुन्दर धर्मशाला, मूलगन्ध कुटी विहार पुस्तकालय, जैन धर्मशाला और अजायबघर है।

धार्मिक महत्व

भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित्र से चार स्थानों का विशेष सम्बन्ध है—लुम्बिनिग्राम, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर। लुम्बिनिग्राम में बुद्ध नें जन्म पाया, गया में तपस्या का, सारनाथ में सबसे पहले धर्मोपदेश दिए और कुशीनगर में मृत्यु हुई। यहां पर सबसे पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था—

"भिक्षुओ! सांसारिक भोगों में लिपटा नहीं रहना चाहिए और मन को पवित्र करने और मुक्ति के लिए शरीर को तपाना चाहिए, मैंने दोनों के बीच का रास्ता खोज निकाला है—उचित वचन बोलना, उचित कर्त्तव्य करना, उचित दृष्टि रखना, उचित संकल्प करना, उचित रीति से अपनी जीविका चलाना, उचित व्यायाम करना, उचित स्मृति रखना, उचित समाधि लगाना, इसी को बौद्ध गृन्थों में धर्मचक्र-प्रवर्तन कहते हैं।

खुदाई

सन् १९९३-९४ में काशीनरेश के दीवान जगतसिह ने जगतगंज बस्ती बनाने के लिए सारनाथ के एक स्तूप का बहुत-सा मसाला खोद लिया। उस स्तूप में एक बुद्ध की मूर्ति भी मिली, उसको देखकर वहां के डिप्टी कमिश्नर ने बंगाल की एसियाटिक सोसाइटी को इसकी सूचना दी। तभी से प्राचीन बाद्ध स्थान के नाम से यह प्रसिद्ध हुआ, इससे पूर्व

उसे इस रूप में कोई नहीं जानता था।

सन् १८३४-३६ में कनिंघम साहब ने फिर खुदाई कराई; जिसमें बहुत-सी मूर्तियां मिलीं। वे अब कलकत्ता के अजायबघर में हैं। सन् १९०४-५ में फिर खुदाई हुई। इसमें अशोक-स्तम्भ, इसका सिंह शिखर आदि मिले।

प्राप्त भग्नावशेष

दीवान जगतसिंह द्वारा नष्ट किये गए स्तूप का नाम धर्मराज का स्तूप है। इस समय यह मुख्य स्तूप चिह्न-मात्र रह गया है। जमीन से १८ हाथ नीचे दो पात्र, एक पत्थर तथा दूसरा संगमरमर का, मिले हैं। उनमें कुछ हड्डियां, कुछ मोती तथा सोना मिला। इसी स्तूप से उत्तर की ओर प्रधान मन्दिर का अवशेष है। इसकी दीवारें व छत तक ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं। सामने आगे पीछे करके दो बड़े दालानों का चिह्न है। आगे के हाल में बौद्ध भिक्षु तथा पीछे वाले में गृहस्थी लोग पूजा किया करते थे।

दूसरा स्तूप 'धमेख' स्तूप है। इसकी दशा अच्छी है। यह बहुत ऊंचा और बिलकुल ठोस है। इसके पास ही प्राचीन काल के मठ भी मिले हैं। यहीं पर एक प्राचीन बौद्ध की समाधि मिली है। एक पत्थर की शिला में कटी हुई बिना किसी जोड़ की सीढ़ियाँ हैं, जो बिलकुल नई मालूम पड़ती हैं।

जिस स्थान पर भगवान् बुद्ध ने पूर्व जन्म में छः दांतों वाले हाथी का शरीर धारण किया था और जहां भगवान् अपने पांच शिष्यों को मिले थे—वहां अब तक एक भग्नस्तूप उन घटनाओं की याद दिलाने के लिए खड़ा है।

इस स्थान के प्राप्त अवशेषों में सबसे प्राचीन अशोक-स्तम्भ का सिंह-शिखर है। इस शिखर में सिंह की त्रिमुखी मूर्ति है। इन पर अब भी बड़ा सुन्दर पालिश है, जिससे मालूम पड़ता है कि स्तम्भ का पालिश भी

बेजोड़ था। इस अशोक-स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में ये बातें प्राकृत म लिखी हैं ;—

"देवताओं के प्रियदर्शी राजा अशोक ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा अन्य प्रान्तों में कोई भी संघ में फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी—संघमें फूट डालेगा वह सफेद कपड़ा पहनाकर संघ से पृथक् कर दिया जायेगा, जहां-जहां आप लोगों का अधिकार (साम्राज्य) हो वहां-वहां आप लाग सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें।" सारनाथ में सरकार की तरफ से अब एक अजायबघर भी है, जिसमें वहां की प्राप्त सारी वस्तुएं इकट्ठी कर दी गई हैं।

अन्य महत्वपूर्ण स्थान

ऊपर हमने चार ऐसे स्थानों का वर्णन किया है जो भारतीय अतीत सभ्यता के केन्द्र बने रहे। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से स्थान हैं। स्थान न होने से उनका वर्णन नहीं दिया जाता। इनमें बड़े-बड़े राज-गृह, (राजगिरि) वैशाली, कुशीनगर, पाटलिपुत्र हैं। इनका हम सूक्ष्म-तया परिचय मात्र देंगे।

राजगिरि

यह स्थान बिहार प्रान्त के पटना जिले का एक ग्राम है। पूर्व, पश्चिम, और दक्षिण में पहाड़ियों से घिरा है। इस समय यह ख़याल है कि आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व जरासंध ने इसे बसाया था और अपनी राजधानी बनाया था। महाभारत में इसी को गिरि-व्रज कहा है। यहां के मनुष्य अभी तक इसके किले को जरासंध का किला कहते हैं। बाद में शिशुनाग वंश के राजाओं के काल में इसका नाम राजगृह पड़ा।

इसके बाद बहुत दिनों तक राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी रहा। ई० पू० लगभग ५०० वर्ष में शिशुनाग वंश के राजा उदयी ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में बनाई।

धार्मिक दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्त्व है। यह ई० पू० ६०० वर्ष से

ही बौद्ध धर्म के प्रचार का केन्द्र बना रहा है। जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर वर्धमान ने भी अपने धर्म-प्रचार का इसी को केन्द्र बनाया था। अब भी साल में एक बार देश भर के जैनियों का एक मेला यहां होता है। जरासंध और बिम्बसार के राज-प्रासाद पृथ्वी के गर्भ में विलीन हो गए हैं। ह्वेनसांग के इसके विषय में वाक्य हैं—

"इस नगर के बाहर के प्राकार कुछ गिर गए थे, पर नगर के भीतर के प्रासादों की दीवारें इस समय तक बच रही थीं। नगर २० ली (१ मील = ६-७ ला) के घेरे में था और उसका केवल एक द्वार था। इसके दक्षिण में बड़ी-बड़ी शिलाओं पर शिला-लेख हैं। वे अभी तक बांचे नहीं जा सकते।" अब भी इनकी दर्शनीय वस्तुएं निम्न हैं:—

१. अशोक की लाट, जो ६० फुट ऊंची है।

२. एक दूसरी लाट, जो पांच पर्वतों की घाटी के बीच में है, परन्तु अब गिर गई है।

३. पर्वत की चोटी पर जैन-मन्दिर।

४. सोन भण्डार गुफा, जिसे पहला राज-कोष समझा जाता है। यहां वर्षा-काल में लोगों को अब भी पुराने सिक्के मिल जाते हैं।

यहां ब्राह्मणों की आबादी अधिक है। कहते हैं कि जब अगस्त्य ने यज्ञ किया था तो ये लोग दक्षिणी महाराष्ट्र से आये थे; फिर यहीं रह गए। इस समय यह स्थान एक मुसलमान जमींदार के अधिकार में है।

वैशाली

लिच्छिवि लोग प्राचीन भारत की एक प्रसिद्ध क्षत्रिय जाति के थे। इनका निवास आधुनिक बिहार प्रान्त के उत्तर में था। बौद्ध साहित्य में इनका वर्णन मिलता है। उसके अनुसार इनके ७७०७ राजा थे। सबका अभिषेक होता था और ये बड़े भू-भाग में फैले हुए थे। अपने-अपने प्रदेश का सब शासन करते थे। सबके राज्यों को मिलाकर एक लिच्छिवि राज्य कहलाया था। इन राजाओं में से ८ या ९ राजा चुने जाते थे। उनकी राज-परिषद् राज्य की सामूहिक समस्याओं पर विचार करती

थी। अभियोग के लिए एक पोखरी थी। इस पर कड़ा पहरा रहता था। इस लिच्छवि राजा की राजधानी वैशाली थी। चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छिवियों की कन्या से हुआ था और दहेज में सारा राज्य उसे मिला था। समुद्रगुप्त के सभी शिलालेखों में "लिच्छवि-दौहित्र" लिखा मिलता है। यहां तीन बार भगवान् बुद्ध आए थे।

प्राचीन समय में वैशाली तीन भागों में विभक्त था। वैशाली, जिसे अब वसाढ़ कहते हैं, बिहार के जिला मुजफ्फरपुर में है। दूसरा वणिक्ग्राम और तीसरा कोल्लगांव। इनका नाम अब "बनिया" और "कोल्हुआ" है। यहां अशोक का बनवाया हुआ एक स्तूप है। चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है कि वैशाली के उत्तर-पश्चिम में अशोक का बनवाया हुआ ५०-६० फुट ऊंचा स्तम्भ है। जिस पर सिंह की मूर्ति बनी है। अब यह स्तम्भ सिर्फ २२ फुट ऊंचा रह गया है। सम्भव है लाट का कुछ हिस्सा जमीन के अन्दर धंस गया हो। आसपास कई मीलों तक वैशाली के पुराने वैभव के ध्वंसावशेष दिखाई पड़ते हैं। जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर का जन्म इसी कोल्लगांव में हुआ था। सम्राट अशोक, ह्वेनसांग, फाहियान आदि इन स्थानों के दर्शनों को आये थे।

सन् १९०४ में किले की खुदाई हुई तो पुराने मकानों की इमारतें, जो १६—१७ सौ वर्ष पहली हैं, निकलीं। कुछ मुहरें ४ थी ५ वीं सदी की निकली हैं। खुदाई के समय हड्डियां, राख, जली लकड़ियां भी पाई गईं जिसे अनुमान होता है कि आततायियों ने इसे लूटा, जलाया और नष्ट कर दिया। वसाढ़ में एक तालाब का नाम बामन तालाब है। ऐसी किंवदन्ती है कि भगवान् वामन ने यहीं पर राजा बलि के अभिमान को चूर-चूर किया था।

प्राचीन भारतीय सभ्यता का केन्द्र पाटलिपुत्र भी है। बहुत दिनों तक यह राज्य और साम्राज्यों की राजधानी रहा है। पर आक्रमणों के कारण प्राचीनतम अवशेष नहीं बच सके। कुशीनगर में भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ था।

दसवां भाग

संस्कृत साहित्य

हमारी सभ्यता का तात्पर्य हमारे पूर्वज सभ्यों की जीवनचर्या, उनके विचार और आदर्शों से है, और वे आदर्श विचार और जीवन-चरित्र साहित्य में ही मिल सकते हैं। इसलिए भारतीय साहित्य का सूक्ष्म परिचय दिया जाता है। वास्तव में किसी भी जाति की सभ्यता का दर्शन उसके साहित्य में ज्यों-का-त्यों हो जाता है। इसलिए उस देश के साहित्य का स्वरूप, परिणाम तथा उसमें आए हुए विचारों की ऊंचाई भली-भांति उस देश की असलियत बता देती है। इस परख से हम अपने प्राचीन साहित्य को देखें तो आज समस्त संसार में हमारा प्राचीन साहित्य अधिक है और उस समय के ध्यान से ऊंचा भी सबसे अधिक है। इसका तो परिचय भी कई ग्रन्थों में दिया जा सकता है। यहां उतना स्थान नहीं। केवल दिग्दर्शन कराया जाता है।

वेद

हमारे साहित्य का प्रारम्भ वेदों से है। पहले वेद एक ही था, बाद में उसे चार भागों में बांटा गया; जो (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, (४) तथा अथर्ववेद बने। प्राचीन भारत में आदर्श तो यह था कि प्रत्येक बालक चारों वेद पढ़े; और कुछ पढ़ते भी थे पर एक तो अवश्य पढ़ते थे। एक-एक वेद की उच्चारण तथा मन्त्रों के कुछ ऐसे

ही साधारण परिवर्तनों से कई शाखाएं बन गईं ।

महर्षि पतञ्जलि के शब्दों मे ऋग्वेद २१ प्रकार का, यजुर्वेद १०१ शाखाओं वाला, अथर्ववेद ९ शाखाओं का, और सामवेद एक सहस्र शाखाओं वाला था, परन्तु इस समय इतनी शाखाएं नहीं मिलतीं । एक-एक दो-दो शाखाएं ही मिलती हैं । प्रत्येक वेद का पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ होता है, जिसमे वेद के मन्त्रों का प्रयोग उसका अर्थ, यज्ञ का वर्णन, तथा अन्य आवश्यक बातें होती हैं । इन दोनों ग्रन्थ संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थ को वेद नाम से कहते हैं । इसके बाद आरण्यक ग्रन्थ हैं जो ढलती आयु में अरण्य में निवास करने वाले ऋषि-महर्षियों के विचार हैं । पांचवें उपनिषद हैं—जिनमें आत्मा, परमात्मा, शरीर, संसार आदि तत्त्वों का चिन्तन है । इन सबको वैदिक साहित्य कहते हैं ।

संहिता

ऋग्वेद

इसकी एक शाखा इस समय उपलब्ध है । इसका नाम शाकल शाखा है । इसके प्रधानत: दस भाग (मण्डल) हैं । प्रत्येक मण्डल में सूक्तों का संग्रह है । सूक्त मन्त्रों के समुदाय का नाम है । पहले मण्डल में १९१ सूक्त हैं । दूसरे में ४३ सूक्त हैं । तीसरे में ६२, चौथे में ५८, पांचवे में ८७, छठे में ७५, सातवें में १०४, आठवें में १०३, नवें में ११४ और दसवें में १९१ सूक्त हैं । देखनें की बात है कि आरम्भ तथा अन्त के मण्डलों के सूक्तों की संख्या समान है । कुल मिलाकर १०२८ सूक्त होते हैं । इनमें २१ सूक्तों पर, जिन्हें "वालखिल्य" कहते हैं, न सायणाचार्य का भाष्य है, और न शौनक ऋषि की आर्षानुक्रमणी में इनका उल्लेख है । इसलिए इन्हें बाद का प्रक्षिप्त समझा जाता है ।

प्रत्येक सूक्त में किसी दिव्य ईश्वरीय विभूति की स्तुति है और इस स्तुति के साथ-साथ व्याजरूप से सृष्टि के अनेक रहस्यों तथा तत्त्वों का

उद्घाटन है। ये मन्त्र पद्य में हैं, इनके छन्द सभी वदिक हैं। यह संस्कृत तथा प्रचलित भाषाओं के छन्दों से बहुत कम मिलते हैं। लगभग ७९ देवताओं की स्तुति की गई है, जिनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, वायु आदि प्रधान हैं। यज्ञों में देवताओं का आह्वान और स्तुति करने के लिए ऋग्-मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। ऋक् शब्द अर्च धातु से निकला है जिसका अर्थ स्तुति करना है।

यजुर्वेद

इसके प्रधान दो भाग हैं शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद शुक्ल में ब्राह्मण पृथक् तथा संहिता पृथक् हैं। कृष्ण में दोनों सम्मिलित हैं। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिनी शाखाएं आजकल मिलती हैं। इन्हें वाजसनेयी भी कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद में काष्क, कपिष्ठल, कठ, मैत्रायणी तथा तैत्तरीय शाखाएं मिलती हैं। दोनों प्रधान भेदों में (शुक्ल-कृष्ण) कहीं-कहीं पाठ और कहीं-कहीं उच्चारण के भेद हैं। मन्त्र वही हैं। गद्य और पद्य दोनों वेदों में वही हैं, परन्तु विषय-क्रम, और उच्चारण के प्रभेद से शाखाओं का भेद हो गया है। सहूलियत की दृष्टि से वाजसनेयी शाखा का स्वरूप दिया जाता है :—

इसके ४० अध्याय हैं। इनमें प्रधानतया यज्ञों का विधान है। इन में अन्त के पंद्रह अध्याय बाद के मालूम पड़ते हैं। क्योंकि उनमें वे ही बातें हैं जो पहले २५ अध्यायों में वर्णित हैं। दर्श पौर्णमास, (अ०—१-२) अग्नि होम चातुर्मास्य (अ० ३) सोमयाग तथा इसका पश्वालम्भ [अ० ४-८] सोम प्रार्थना [अ० ९-१०] अग्निचयनं (अ०—१२-१८) सौत्रायणी याग (अ० १९-२१) तथा अश्वमेध (अ० २२—२५) सम्पूर्ण संहिता के विषय हैं। अध्याय २६ से ३५ तक "खिल" समझे जाते हैं। बाकी के अध्याय में कुछ उपनिषदें, कुछ में सर्वमेध यज्ञ का वर्णन है। यजु: शब्द यज् धातु से बना है जिसका अर्थ यज्ञ करना है। इसलिए यज्ञों में उपयुक्त मन्त्रों की यजु: संज्ञा है। इसीलिए यजुर्वेद